आगम-मीमांसा

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान,जंगमवाड़ीमठ

वाराणसी

सम्पादक : डॉ. रमा घोष

शोधप्रकाशन ग्रंथमाला — 79

आगम-मीमांसा

सम्पादक :
डॉ० रमा घोष

शैव भारती शोध प्रतिष्ठान
डी. 35/77, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी

प्रकाशक :
शैवभारती शोध प्रतिष्ठान
डी. 35/77, जङ्गमवाड़ी मठ
वाराणसी-221001

प्रथम संस्करण : नवम्बर, 2015 ई.

ISBN : 978-93-82639-19-0

मूल्य रु. 300.00

मुद्रक :
शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस
जंगमवाडीमठ, वाराणसी

मुद्रक :
मित्तल आफसेट
कौशलेश नगर, सुन्दरपुर, वाराणसी

Dedication



Shree 1008 Jagatguru Virabhadra Shivacharya Mahaswamiji

The 84th Pontiff of the
Jangamwadi Gyanasimhasana Math

अविर्भाव **लिङ्गैक्य**

25-8-1904 **25-1-1948**

।। ॐ नमः पञ्चजगद्गुरुभ्यः ।।

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक

श्रीकाशीविश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर

श्री १००८ श्री डॉ चन्द्रशेखर शिवाचार्य

महास्वामी जी का



आशीर्वचन

भारत के सांस्कृतिक राजधानी श्री काशी क्षेत्र में श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य ज्ञान सिंहासन का जंगमवाड़ी मठ राष्ट्रीय भावैक्यता का एक प्रमुख स्थान माना जाता है। इस पीठ परम्परा के अनुसार ८५ पीठाधीश्वर हो गये हैं। इस पीठ के ८४ वें पीठाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य महास्वामीजी बहुभाषाविद् और पुरातत्त्व के बहुत बड़े ज्ञानी थे। काशी जंगमवाड़ी मठ में जो ज्ञानमंदिर ग्रन्थालय है। वह उन्हीं की अपूर्व देन है। इस महामनीषी के जन्म शताब्दी महोत्सव के उपलक्ष्य में शैवभारती शोध प्रतिष्ठान और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के धर्मागम विभाग के संयुक्त तत्त्वावधान में "आगम मीमांसा" नामक एक शास्त्र संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इसमें जगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य महास्वामी जी के जीवन एवं कार्य के बारे में तिरुपति विश्वविद्यालय के डा. के. प्रताप, मण्डप, मण्डल, कुण्ड आदि का विधान - इस विषय पर आचार्य व्रजवल्लभ द्विवेदी, सूक्ष्मागम प्रतिपादित शिवलीलाओं का तात्विक विवेचन के बारे में तुमकूर हिरेमठ के डा. शिवानन्द शिवाचार्य, कारणागमोक्त वीरशैव धर्माचार

मीमांसा के बारे में हिप्परगी एवं यडूर हिरेमठ के श्री डा. सिद्धराम शिवाचार्य स्वामीजी, वीरशैवागमोक्त आह्निक विधि, शिवपूजा पद्धतिश्च इस विषय पर तुमकूर के पं. कोरम बसवराजु, वीरशैव धर्म के संस्कारों की दृष्टि में कुण्ड, मण्डप, मण्डल और स्थण्डिलों की रचना विषय पर वाराणसी के पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलंग, आगमोक्त समाधि विधि एवं उत्तर विधि का विवेचन इस विषय पर वाराणसी के डा. शीतला प्रसाद उपाध्याय, वीरशैव आगम के परिप्रेक्ष में पारमेश्वर आगम के भक्ति का स्वरूप - इस विषय पर वाराणसी के डा. शीतला प्रसाद पाण्डेय, इसी प्रकार वीरशैवमत के शक्तितत्त्व इस विषय पर कर्नाटक के बबलेश्वर बृहन्मठ के डा. श्री महादेव शिवाचार्य स्वामीजी, वाराणसी के डा. कमलेश झा जी वीरशैवागमोक्त: शिवयोग: विषय पर और वाराणसी के डा. रमा घोष ने भारतीय वृत्तों के परिप्रेक्ष में शिरोव्रत इस विषय पर अपने-अपने शोधपूर्ण निबंधों का वाचन किया और इसके ऊपर विद्वानों के चर्चाएँ भी हुईं।

इन समग्र विषयों का संग्रह करके आगम मीमांसा इस नाम से ग्रन्थ का लोकार्पण करते हुए हमें बहुत आनन्द हो रहा है। आगम शास्त्रों के दुरूह विषयों पर चर्चित सामग्रीओं का एकत्र संग्रह करने से जिज्ञासु पाठकों के लिए यह अच्छे उपयोगी सिद्ध होता है। अत: हम आशा करते हैं कि आगमों के प्रमुख विषयों पर हुए चर्चा का अध्ययन करने के बाद, पाठकों के मन में मूल आगमों के अध्ययन करने की प्रवृत्ति अवश्य बढ़ जायेगी। इस तरह इन चर्चा सत्रों के प्रयोजन लोगों की मूल आगमों के अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ाना ही है। इस सन्दर्भ में चर्चा सत्र में भाग लिए हुए सभी विद्वानों को हम अनन्त मंगलाशीर्वाद प्रदान करते हैं। इसी तरह भविष्य में भी उनके सहयोग की अपेक्षा रखते हैं।

इस ग्रन्थ के मुद्रण कार्य में अहर्निशि प्रयत्नरत श्री चिदानन्द ओ. हिरेमठ (कसगी) और डा. गंगाधर केण्डदमठ को भी अनन्द मंगलाशीर्वाद। हमारे शोध संस्थान के निदेशक पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी को उत्तम आरोग्य और दीर्घायुश की कामना करते हैं। सुधि पाठकों को भी मंगलाशीर्वाद देते हुए हम अपना आशीर्वचन पूर्ण करते हैं।

इत्याशीषः

PREFACE

This memorable piece of publication is the proceeding of the seminar held on the occasion of the birth centenary celebration of the Jagadguru 1008 Virabhadra Shivacharya Mahaswamiji, the 84th Pontiff of the Jñānasiṁhāsana of Jangamwadimath. The seminar was the joint venture of the Shaiva Bharati Shodha Pratishthana, the educational wing of Math and the department of Dharmagama, Faculty of Sanskrit Vidyaa Dharma Vijñāna, Banaras Hindu University. Learned scholars from the various parts of India have discussed different aspects of Vīraśaivāgamas and their implications on the religious and social life.

In presidential address Prof. Shivakumar Swamy has advocated the relation of Veda and Āgama, the parallel streams of our scriptures. Both the scriptures were manifested by Śiva himself. The time of the scriptures cannot be ascertained correctly. Mahamohopadhyay Gopinath Kaviraj holds that scriptures are eternal and revealed by Śiva himself. It may be revealed in any time and at any place and also goes back again to the sphere of Reality as per the will of God. So, historical enquiry regarding the time of the revelation of scriptures is irrelivant. The knowledge and practice of Āgama is practically flowing with the tradition. But the study of the historicity of the events continues. So, according to the scholars, Śaivāgamas are found near about 8th century A.D. Prof. Swamy has stated the principal tenets of Vīraśaivism that have been described in the later portion of 28 Siddhāntāgama as per the information provided by Śrī Siddhāntaśikhāmaṇi, the celebrated work of great Śivayogi Śivācāryā.

Prof. Pratap has nicely stated the life-sketch and contribution of Jagadguru Virabhadar Shivacharya who was a great religious personality with profound scholarship. Immense is his contribution in spreading the teachings of Vīraśaivism.

Śakti is nothing but the dynamic aspect of the ultimate Reality, Śiva. According to Āgamic philosophy the creation is the manifestation of the Reality and that is the spontaneous expression of the bliss of Saccidānanda. The commotion in Śiva, the static Principle as the expression of will assumes various forms of manifestations. This active

aspect of Reality is actually the cause in the real sense. Soul as jīva possesses limited power. It is the Śakti that makes possible the union of Śiva and Jīva. Śiva is inseparably in union with Śakti. This teaching is named as Śaktiviśiṣṭādvaitavāda. The nature and role of Śakti-tattva has been described elaborately by Mahādeva Śivācārya Swamy.

Indian religious culture has developed various kinds of Yoga both in Vedic and Āgamic stream. Prof. Jha has presented nicely and authentically the Āgamic doctrine of Yoga. Though there are various means to attain the liberation, viz., knowledge, action and devotion, but most of the religious philosophy of India have advocated that these three are not separated from each other, rather amalgamated with one another. Devotion or Bhakti has got its own characteristics and value. Dr. S. P. Pandey has stated the nature of devotion as depicted in Pārameśvarāgama. Ācārya Vrajavallabha Dwivedi, and erudite scholar of Āgama Tantra has depicted elaborately the process and procedure and the significance of Maṇḍapa, maṇḍala and kuṇḍa etc. for observing Āgamic rites. Dr. Shivanand Shivacharya has narrated the twentyfive episodes of Śiva's sport (Śivalīlā), the manifestation of his love as narrated it Sūkṣmāgama. Kāraṇāgama has preached the injunctions about the religious rites of the devotee. Dr. Siddharam Panditaradhya has described it properly. Vīraśaivāgamas has advocated the process of worship of Śiva including the rites of japa. K. M. Basavaraju has compiled them authentically in detaile. Pandit Jagannath Shastri Tailang has narrated the process of construction of Kuṇḍa, Maṇḍap, Maṇḍal and Sthaṇḍil as per the rules depicted in the Vīraśaiva Śaivāgamas. Vrata is a part of worship. Dr. Rama Ghose has explained the meaning and significance of Vrata in the process of worship as described in Viraśaivāgamas and also has descussed some of the other Vratas advised in the various scriptures. Vīraśaiva scriptures have included a detailed instruction regarding the rules and regulations of the last rites of deceased person. Prof. Shitla Prasad Upadhyay has given a detailed expression of this rite. Most of the writers have presented different aspects from the Kriyāpāda and Caryāpāda of Vīraśaivāgama. These customary rites are traditional practices of the Vīraśaiva religious philosophy which are the essential requirent of the way of life to attain the end.

Rama Ghose

विषयसूची

◆◆◆

शैवागमेषु वीरशैवम्
विचार सङ्गोष्ठी, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः
उद्घाटनभाषणम्

•

डॉ. एम्. शिवकुमारस्वामी
निवृत्तसंस्कृतप्राध्यापकः
बेंगलूरु विश्वविद्यालयः

त्रैलोक्य सम्पदालेख्य समुल्लेखनभित्तये।
सच्चिदानन्दरूपाय शिवाय ब्रह्मणे नमः।।

प्रथमं तावत् श्रीमत्काशी-ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री श्री श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखरशिवाचार्य महास्वमिनां चरणाविन्दयोः शिरसाष्टाङ्ग नमस्कारान् समर्प्य, अन्येभ्य उपस्थितेभ्यः शिवाचार्येभ्यो नमांसि विधाय अस्याः सङ्गोष्ठ्याः उद्घाटनं कर्तुम् उद्युक्तोऽस्मि।

अयि मान्याः विद्वत्तल्लजाः, संगोष्ठ्यां शोधपत्राणि मण्डयितुम् आगताः विद्वद्वरेण्याः, अन्ये श्रोतारः बन्धुजनाः, विद्यार्थिनः विद्यार्थिन्यश्च।

विश्वविद्यालयस्तरे अयमेकः नवीनः विषयः सङ्गोष्ठ्यां विचारणार्थम् आदृतः। शैवागमेषु वीरशैवमिति स विषयः। सर्वविधानां शैवानां समानाः आकराः शैवागमाः। तेषां विषये प्रास्ताविकरूपेण किञ्चिद्वक्तुमिच्छामि।

आगमाः नाम परम्परागताः धर्मग्रन्थाः। आगमशब्दः आङ्-उपसर्गपूर्वक-गम्लृ गतौ धातोः निष्पन्नः। आङ्-उपसर्गस्य 'परम्परा' इत्यर्थः। गम्लृ-धातुः गमनार्थकः। गत्यर्थकाः धातवः ज्ञानार्थकाः अपि भवन्ति इति नियमः अस्ति। एवम् आगमः नाम परम्परागतं ज्ञानम्। तादृशज्ञानस्य सङ्ग्रहभूतः ग्रन्थः अपि आगमशब्देन व्यवह्रियते। आगमेष्वेव आगमशब्दनिर्वचनं दृश्यते। तत्रैकम् अक्षरनिर्वचनमस्ति। तदनुसारेण 'आ' इत्यनेन शिवस्य पञ्चवक्त्रेभ्यः आगतम्

इति, 'ग' इत्यनेन गिरिजानने गतम् इति, 'म' इत्यनेन वासुदेवस्य मतम् इति अर्थः ज्ञायते। तथा चोक्तम्–

आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते।। इति।

(तन्त्रसमुच्चयः, त्रिवेण्ड्रंसंस्कृत सीरीस्, पीठिका, पु.)

एवं परमात्मनः सम्भूतं परम्परया आगतं शास्त्रम् आगमशास्त्रम्। तथा च पाशुपतसूत्रम्– "आगमो नाम आमहेश्वरात् गुरुपारम्पर्यागतं शास्त्र इति। आगमानां तन्त्रम् इत्यपरं नाम। तनु-विस्तारे धातोः त्रन्-प्रत्यययोजने निष्पन्नः तन्त्रशब्दः ज्ञानस्य विस्तारः इत्यस्मिन्नर्थे वर्तते। इममेवार्थं योजयित्वा अजितागमः तन्त्रशब्दं निर्वक्ति–

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमाश्रितान्।
त्राणं च कुरुते पुंसां तेन तन्त्रमिति स्मृतम्।।

(अजितागमः, सं.१, क्रि.पा., १.११५)

तत्त्वमन्त्रसम्बद्धान् बहून् अर्थान् तनोति विस्तरति पुंसां त्राणं रक्षणं च करोति इति तन्त्रम् अन्वर्थं भवति। सामान्यतः शैवशास्त्रस्य आगमः इति शाक्तशास्त्रस्य तन्त्रम् इति व्यवहारः दृश्यते। नियमेन तथा इति तु वक्तुं न शक्यते।

वेदः आगमश्च

भारतीयपरम्परायां वेदागमयोः समानं प्राशस्त्यं दृश्यते। उभयोरपि ईश्वर एव मूलम्। तथा चोक्तम्–

विमर्शरूपिणी शक्तिः शिवस्य परमात्मनः।
निगमागमरूपा स्यात्सर्वतत्त्वप्रकाशिनी।।

(श्रीकरभाष्यम्, १.१.३)

सर्वेषां तत्त्वानां प्रकाशिनी परशिवस्य विमर्शाशक्तिरेव वेदागमस्वरूपम् अधायत्। एवमुभयोरपि अपौरुषेयत्वम्। उभयोरपि समं प्रामाण्यम्। ऋषिभिः पुरातनैः सत्त्वोद्रेकस्थितौ साक्षात्कृतानि सत्यतत्त्वान्येव मन्त्राः। तेषां संग्रहाः तावद् वेदाः। एवमेव परशिवानुग्रहपात्राणां ज्ञानिनां गोचरीभूत्वा परम्परया आगतं ज्ञानम् आगमेषु संगृहीतम्। शिवयोगिशिवाचार्याः वेदागमयोः समप्रामाण्यम् आगमानां च वैशिष्ट्यं सम्यक् प्रत्यपादयन्। तथा हि–

वेदैकदेशवर्तिभ्यः सांख्यादिभ्यो महामुने।
सर्ववेदानुसारित्वाच्छैवतन्त्रं विशिष्यते।।

शैवतन्त्रमिति प्रोक्तं सिद्धान्ताख्यं शिवोदितम्।
सर्ववेदार्थरूपत्वात् प्रामाण्यं वेदवत्सदा।।

वेदसिद्धान्तयोरैक्यम् एकार्थप्रतिपादनात्।
प्रामाण्यं सदृशं ज्ञेयं पण्डितैरेतयोः सदा।।

(श्रीसिद्धान्तशिखामणिः, ५.७-८,१३)

वेदस्य एकदेशवर्तिनां सांख्यादिशास्त्राणाम् अपेक्षया शैवतन्त्रं विशिष्टम्, समस्तवेदानुसारित्वात्। शिवप्रणीतं शैवागमशास्त्रं सिद्धान्तनाम्ना व्यवह्रियते। तस्य वेदवत् प्रामाण्यम्, सकलवेदार्थरूपत्वात्। वेदसिद्धान्तयोरेकत्वम्, एकार्थप्रतिपादनात्। उभयोरपि समप्रामाण्यं ज्ञेयम्। श्रीकण्ठशिवाचार्याः "वयं तु वेदागमयोः भेदं न पश्यामः" (श्रीकण्ठभाष्यम् २.२.३७) इत्युक्त्वा, ब्रह्म-प्रणवः-पञ्चाक्षरी-प्रसादादि-मन्त्रेभ्यः, पति-पशु-पाशादितत्त्वेभ्यः, त्रिपुण्ड्रधारण-लिङ्गार्चन-रुद्राक्षधारणादिमुख्यधर्मेभ्यः अन्येभ्यश्च व्यवहारेभ्यः वेदागमयोः समं प्रामाण्यम् इति समर्थितवन्तः।

वस्तुतः वेदोद्देशप्रर्तनायैव आगमाः परम्परायां प्रवर्तिताः सन्ति। वेदमन्त्राणां फलप्रदत्वम् अनुष्ठानमवलम्बते। अनुष्ठानविधानं तावद् आगमेषु विद्यते। वेदमन्त्राणां ऋषि-देवता-छन्दः-पल्लवादि विषयान् संसूच्य तेषाम् अनुष्ठानं बोधयन्ति आगमाः। तेषां पुनः सत्फल सिद्ध्यर्थं स्वाधीनत्वम् अपेक्षितम्। तदर्थं पुरश्चरणविधिरपेक्षितः। स विधिः आगमेषु उक्तः। पुरश्चरणविधौ पञ्चाङ्गोपासना, जपः, होमः, तर्पणम्, अभिषेकः रुद्रभोजनं चेति षडङ्गानि भवन्ति। पञ्चाङ्गोपासनायां गीतम्, सहस्रनाम, स्तवः, कवचः, हृदयं चेति पञ्चाङ्गानि विद्यन्ते। प्रतिमन्त्रं नमः, स्वाहा, वौषट्, हम्, फट् इति पल्लवाः, अङ्गन्यासः, करन्यासः, दिग्बन्धनम् इत्यादयः अपेक्षिताः। एतेषां सर्वेषां विस्तारः आगमेष्वेव उक्तः, तस्मादेव वेदमन्त्रानुष्ठानं शक्यतां प्राप्तम्।

शैवागमानां संख्या

सिद्धान्तशैवकक्ष्यायां विद्यमानानां शैवागमानां संख्या अष्टाविंशतिः इति ज्ञायते। तेषा नामानि– १. कामिकागमः, २. योगजागमः, ३. अचिन्त्यागमः, ४. कारणागमः, ५. अजितागमः, ६. दीप्तागमः, ७. सूक्ष्मागमः, ८. सहस्रागमः,

९. अंशुमदागमः, १०. सुप्रभेदागमः, ११. विजयागमः, १२. निःश्वासागमः, १३. स्वायंभुवागमः, १४. अनलागमः, १५. वीरागम, १६. रौरवागमः, १७. मकुटागमः, १८. विमलागमः, १९. चन्द्रज्ञानागमः, २०. बिम्बागमः, २१. प्रोद्गीतागमः, २२. ललितागमः, २३. सिद्धागमः, २४. शर्वोक्तागमः, २५. सन्तानागमः, २६. पारमेश्वरागमः, २७. किरणागमः, २८. वातुलागमः। एतेषु कामिकादारभ्य सुप्रभेदपर्यन्तं दश आगमाः 'शिवभेदागमाः' इति प्रसिद्धाः। एवमेव विजयादारभ्य वातुलपर्यन्तम् अष्टादशागमाः 'रुद्रभेदागमाः' इति ज्ञाताः। एकैकस्य आगमस्य उपागमाः सन्ति। उपागमानां संख्या आहत्याष्टोत्तरद्विशतम्। एवं शैवागमानां साहित्यं विपुलम् आसीद् इति ज्ञायते।

शैवागमानाम् उपलब्ध्यनुपलब्धिविचारः

अष्टाविंशतिशैवागमेषु अष्टोत्तरद्विशतोपागमेषु च केचन एव मूलागमाः उपागमाश्च उपलब्धाः सन्ति। तेऽपि समग्रतया नोपदब्धाः। प्रत्येकस्मिन् आगमे क्रियापादः, चर्यापादः, योगपादः ज्ञानपादश्चेति चत्वारः पादाः भवन्ति। उपलब्धेषु आगमेषु केषुचन चत्वारः पादाः नोपलब्धाः। आगमेषु पुनः पूर्वभागः उत्तरभागश्चेति भागद्वयं दृश्यते। उपलब्धेषु आगमेषु केषुचन पूर्वभागः एव अन्येषु केषुचन उत्तरभागः एव उपलब्धः। सर्वेषु आगमेषु वीरशैवपराः उत्तरभागाः आसन् इत्यस्मिन् विषये श्रीसिद्धान्तशिखामणिः बसवेश्वरादिशिवशरणानां वचनेषु उल्लिखिताः आगमश्लोकाश्च प्रमाणम्। श्रीसिद्धान्तशिखामणौ त्विदं स्पष्टतया उक्तम्–

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्।। (५.१४) इति।

'सिद्धान्तः' इति प्रसिद्धस्य शिवोक्तस्य कामिकादेः महातन्त्रस्य उत्तरे भागे श्रेष्ठं वीरशैवमतं प्रतिपादितम्।

उपलब्धाः शैवागमोत्तरभागाः

वीरशैवस्य मूलाकरभूतेषु शैवागमोत्तरभागेषु उपलब्धाः– १. चन्द्रज्ञानागमोत्तरभागः क्रिया-चर्येत्युभयपादात्मकः, २. पारमेश्वरागमोत्तरभागः त्रयोविंशतिपटलात्मकः, ३. सूक्ष्मागमोत्तरभागः क्रियापादीयदशपटलात्मकः, ४. कारणागमोत्तरभागः क्रियापादीयदशपटलात्मकः, ५. मकुटागमोत्तरभागः क्रिया-चर्येत्युभयपादात्मकः, ६. वीरागमोत्तरभागः सप्तपटलात्मकः, ७. कामिकागमोत्तरभागश्च क्रियापादीयाष्टोत्तरनवतिपटलात्मकः।

चन्द्रज्ञानागमे– वीरशैवसम्बन्धि तत्त्वद्वयम् अष्टावरण-पञ्चाचारविषयकं क्रियापादे, वीरशैवानाम् अन्त्येष्टिसम्बद्धानि कर्माणि च चर्यापादे सविस्तरं निरूपितानि। **पारमेश्वरागमस्तु** वीरशैवविषयाणां विश्वकोशात्मकः ग्रन्थः। शैवभेदाः, इष्टलिङ्गसज्जिका, शिवसूत्रम्, गुरुशिष्यलक्षणम्, दीक्षाक्रमः, षट्स्थल-स्वरूपम्, वीरशैवमहिमा, पञ्चाक्षरीमन्त्रमहिमा, योगविधानम्, अन्त्येष्टिविधानम्, ज्ञानयोगः इत्यादिविषयाः तत्र निरूपिताः। **सूक्ष्मागमे** वीरशैवतत्त्वरहस्यानि उद्‌घाटितानि। शिवतत्त्वनिरूपणम्, शिवपञ्चविंशतिलीलाः, पञ्चाक्षर-षडक्षरेत्युभयात्मकमन्त्रस्य स्वरूपं महत्त्वं च, गुरुशिष्यलक्षणं सम्बन्धश्च, लिङ्गतत्त्वस्वरूपम्, लिङ्गस्थलाङ्गस्थलयो स्वरूपं समन्वयश्च, भक्तमाहात्म्यं चेति बहुविधविषयाः प्रतिपादिताः। **कारणागमे** वेधा-मन्त्र-क्रियात्मक दीक्षात्रयान्तर्गताः एकविंशतिदीक्षाप्रकाराः उक्ताः। अनन्तरं शाम्भव (वीरशैव) व्रतस्य ज्ञानसाधनत्वम्, स्त्रीणां दीक्षायोग्यत्वम्, शाम्भवव्रतिनाम् आह्निकविधिः, गुर्वी लघ्वी अवसरा इति पूजात्रयविधानं पूजासामग्रीसम्पदनं च, षट्स्थलपूजा-विधानम्, नैवेद्यसमर्पणं प्रसादस्वीकारश्चेति बहुविचाराः निरूपिताः। **मकुटागमे** क्रियापादे शाम्भवव्रतस्वरूपं आह्निकविधिश्च, महतीति पूजान्तरस्वीकारेण पूजचतुष्टयविधानम्, पूजासामग्रीसम्पादनम् चेति, चर्यापादे वीरशैव-शिवमेधकार्याणि च निरूपितानि सन्ति। **वीरागमे** दीक्षाद्रव्यसम्पादनम्, श्रीरेणुकोक्तशिवतत्त्वदर्शनम्, वीरमाहेश्वरस्वरूपं महत्त्वं च, वीरशैवदीक्षा-कालनिर्णयः, वीरमाहेश्वरप्रसादमहिमा, पादोदक-प्रसादयोः निरूपणं चेति अनेके विषयाः प्रतिपादिताः।

सुप्रभेदागमः, स्वायंभुवागमः इत्यनयोः केचनपटलाः, पाशुपतागमः नाम उपागमः, वातुलशुद्धागमः इति अपरः उपागमः, इति उपलब्धशैवागमोत्तरभागेषु अन्ये भवन्ति।

शैवागमानां कालः

शैवागमानां कालविषये निश्चयेन न किमपि वक्तुं शक्यते। तथापि कांश्चननिर्दिष्टान् आधारान् अवलम्ब्य तेषां कालस्य पूर्वोत्तरसीमे स्थूलतया सूचयितुं प्रयत्नः विधेयः। विषयदृष्ट्या आगमिकसंस्कृतिः वैदिकसंस्कृतेः अनुवर्तनम् इव प्रतिभाति। "यज्ञयागादिषु वेदमन्त्राणाम् अन्वयपूर्वकं सज्जीकृताः भागाः ब्राह्मणाः। ब्राह्मणानां कालानुक्रमेण परिवर्तनमेव आगमाः इति भासते" इति

एस्. के. रामचन्द्रराव् महोदयस्य उक्तिः अर्थगर्भिता दृश्यते। (शिवागमसौरभम् (कन्नड) पीठिका, पु.२)। अनेन शैवागमानाम् आरम्भकालः स्थूलतया सूचितः। केचन तत्र उपोद्बलकाः अंशाः सन्ति। प्रथमस्तावदंशः शैवागमेषु जैनबौद्धमतयोः उल्लेखः स्पष्टतया दृश्यते इति। तथाहि–

आदौ तु सौगतमतं तच्च पञ्चविधं प्रिये।
बौद्ध-सौगत-चार्वाक-जैनार्हतविभागतः।।

(पारमेश्वरागमः, १.८)

भाषादृष्ट्या शैवागमाः पाणिनेः कालाद् अर्वाचीनाः इति द्वितीयः अंशः। पाणिनेः कालः क्रि.पू.७०० इति एकं मतम्। अतः शैवागमानाम् आरम्भकालः क्रि.पू.६०० भवितुमर्हति। भगवद्गीतायां (क्रि.पू.५००) पाञ्चरात्रागमोक्तं वासुदेवमहत्त्वं वर्णितमस्ति। (एकादशतमाध्यायं पश्यन)। अयमाधारोऽपि तमेव आरम्भकालं सूचयति। काञ्चीपुर्यां कैलासनाथमन्दिरे पल्लवराजस्य राजसिंहवर्मणः शिलाशासनमस्ति। तस्मिन् अष्टाविंशतिशैवागमानां नामोल्लेखः उपलभ्यते। तस्य शासनस्य कालः क्रि.श. पञ्चमशतकम्। क्रिस्तीयपञ्चमशतकात् पूर्वमेव अष्टाविंशतिशैवागमाः आसन् इति शिलाशासनीयाधारेण वक्तुं शक्यते।

यद्यपि एवं शैवागमानां प्राचीनत्वं सिद्धम् तथापि तद्गतानां वीर-शैवीयोत्तरभागानां प्राचीनत्वविषये केचन विद्वांसः सन्देहं प्रकटयन्ति। तत्र विचार्यते चेत् एतत्तु स्पष्टं भवति यत् एते वीरशैवपरभागाः श्रीसिद्धान्तशिखामणेः पूर्वकालीनाः इति। शिवयोगिकृतः श्रीसिद्धान्तशिखामणिस्तु शैवागमोत्तरभागानां सारसंग्रहरूपः। तत्कर्तृणा श्रीशिवयोगिशिवाचार्येण "आलोक्य शैवतन्त्राणि कामिकाद्यानि सादरम्, वातुलान्तानि" इति प्रतिज्ञापितम्। श्रीसिद्धान्त-शिखामणेः कालः क्रि.श.अष्टम-दशमशतकयोः मध्ये आपतेत्। एकादशतमशतकमध्ये श्रीकण्ठशिवाचार्य-श्रीपतिपण्डिताराध्यौ स्वीययोः वेदान्तसूत्रभाष्ययोः श्रीसिद्धान्तशिखामणेः श्लोकान् उदाहरताम्। अनेन प्रमाणेन शैवागमोत्तरभागानां कालः क्रिस्तीयाष्टमशतकात् पूर्वभूतः इति वक्तुं शक्यते। अपि च बसवेश्वरादीनां कन्नडवचनेषु शैवागमोत्तरभागेभ्यः उदाहृताः श्लोकाः विद्यन्ते। तथा हि– "एकमूर्तेस्त्रयो भागाः गुरुर्लिङ्गं च जङ्गमः" इति चन्द्रज्ञानागमस्थः (क्रि.पा. ५.१५) श्लोकः चन्नबसवेश्वरवचने (कर्नाटक विश्वविद्यालयावृत्तिः व.सं. ४६८) उद्धृतः। "ओंकारवदना देवी" इत्यादिश्लोकः चन्द्रज्ञानागमादेव चन्नबसवेश्वरेण

उद्धृतः। (व.सं.२६०; चं.आ., क्रि.पा., ११.३९)। वीरागमे–इति नामोल्लेखपूर्वकं केचन श्लोकाः उद्धृताः सन्ति। (चन्नबसवेश्वर व.सं. १३४, ६०८; बसवेश्वरषट्स्थलवचनानि, क.वि.,व.सं. १२४८)। एवं शैवागमानामुत्तरभागाः अपि क्रिस्तीयाष्टमशतकादपि प्राचीनाः इति निर्णेतुं शक्यते।

एतावदुक्त्वा प्रचलिष्यमाणायाः विचारसङ्गोष्ठ्याः विधिवदुद्घाटनम् कृतमिति उद्घोष्य ममैतानि वाक्पुष्पाणि जगद्गुरुचरणयोः समर्प्य विरमामि।

The Life and Achievements of Jagadguru Vīrabhadra Śivācārya

Prof. K. Pratap
Department of Sanskrit
Sri Venkateswara University

विभूतिर्वीरभद्रस्य ज्ञानसिंहासने स्थिता।
वीरशैवजगद्व्याप्ता जीयादाचन्द्रतारकम्॥

As the torrential flow of river Ganges of Varanasi has its humble beginning at Gangotri, the illustrious life of His Holiness Jagadguru Virabhadra Śivācārya, the 84th pontiff of Śrī Viśvārādhya Jñānasiṁhāsanapīṭha of Kāśī has started at a small village, namely, Carlapalli near Nalgoṇḍa, a district head quarter in the Nizam state. Secunderabad-Hyderabad was the capital of the Nizam government. Urdu was the Lingua franca. The **Vīraśaiva** community, was a cognizable group in the population of the Nizam state. But it was in majority in the adjoining provinces of Madras and Bombay.

Traditionally it is believed that the **Vīraśaiva** religion was propounded by five preceptors (*pañcācāryas*) who have emanated from the five faces of Sadāśiva. The **ācāryas** have appeared in different ages (yugas) with different names to propagate the religious doctrine of **Viraśaivism**. During **Kaliyuga** they emerged from the five **Liṅgas** located at Kedāra, Kāśī, Ujjayinī, Rambhāpurī and Śrīśaila. These are the five sacred Pīṭhas to which all **Vīraśaivas** claim their ancestry. Affiliated to these five central Pīṭhas many regional Maṭhas were established to guide the people of the region in their socio-religious activities.

Generally these local Mathas are headed by the **Jaṅgamas,** who are well versed in Śāstras and popularly known as Māheśvaras. They used to guide with their exemplary character and learned counselling the families of the Bhaktas of Vīraśaiva community. Thus they enjoyed a highest respect and veneration. The family of Cidirematham located in the Nalgonda region, is one of those local maṭhas owing its allegiance to the Rambhāpurī matha. His Holiness Śrī Jagadguru Vīrabhadra Śivācārya (now onwards referred to as JVS) was born on 28.5.1904 to the blessed couple of Cidirematham Nāgabhūṣaṇaiah and Śrīmati Syāmalāmbā of Carlapalli village. He was initially named as Vīrabhadraiah and later became popular as Cidirematham Vīrabhadra Śarmā. The Cidirematham family was known for its sound scholarship. The maternal grandfather of JVS, Sri Cittāru Gangaiah was a versatile poet and a close friend of Sri Sirumarti Singaiah, the author of SINGAṄNA BHĀRATAM in Telugu. His uncle Cidire Vīraiah was an author of a drama entitled ŚRĪKRIṢṆA ŚATĀNANDĪYAM and two poems NARAŚMHA ŚATAKAM and BHALLĀNA ŚARABHĀVATĀRA CARITAM. The drama was published by the Śaiva Siddhānta Press, Madras.

The learned father trained the boy in reciting stotras like the **Mahimnāstotra** and other fundamentals of Sanskrit at home along with the prelimanary education at school which was in Urdu medium. The native surroundings and religious ambience made him conversant with three languages viz. Telugu, Kannada and Urdu. Thus his education commenced with a multi-lingual approach. He had a younger sister. The father succeeded in inspiring the boy with the lasting impression that one should always aspire for higher goals in life. As per the design of the destiny both the parents had to breath their last within the span of a year, when the boy was barely twelve. For some-time he remained with his relatives. But the inner urge in him for traditional scholarship had driven him out for Secunderabad in 1919.

With the support of the Bhaktas of his ancestral **Maṭha** he

undertook the method of earning and learning for his initial survival. He used to take care of some of the school going children at the houses of the Bhaktas and used to approach scholars for learning Sanskrit at their convinient time attending to their irrands (sevayā vidyā). He spent thus for two years. As this was of no use he determined to pursue the study of Sanskrit Śāstras mainly. People helped him to get admission in the Sanskrita Pāṭhaśālā at Nīradagumbha, an institute run by His Holiness Śrīmanniranjana Śrī Siddhaliṅgaswamy. In those days the Sanskrit study used to start with the **Pañcamahākāvyas,** the dramas of Kālidāsa, Bhāsa and Bhavabhūti, the Siddhāntakaumudi and the allied Śāstras required. It was not a time bound programme. The duration of the study depended upon the interest of the taught and the dedication of the teacher. The young and energetic JVS could get good grounding over the language and grammar under the guidance of benevolent masters of the day at Pāṭhaśālā within the period of three years (1920-1923). He was very much inspired and encouraged by one of his teachers by name Sri Siddharāma, who trained him in writing articles and composing poetry in Sanskrit. His talent in poetic compositions earned him the title BĀLAKAVI. In pursuit of further studies he joined Sri Cholendra Sanskrita College at Narayanapet and studied **Jyotiṣa** and **Dharmaśāstras** under able scholars of the day for two years (1923-1925).

In 1924, Śri Śāntavīramahāswāmi of Gurumatkal had organised a **Vīraśaivamahāsabhā** for the first time in Itagi in the Nizam State. The popular personalities of the community like Sri Svarūpamṛtyuñjaya swamy of Murughāmath, Dharwad, Sri Bapu Rao Deshmukh, High court Pleader, Hyderabad, Sri Hardekar Manjappa, a noted scholar have participated in it. The young JVS could get a wonderful occasion to address the gathering. The humble beginning, the topic choosen for the occasion, its logical presentation, the flowery language used enthralled the audience in general and earned the admiration of the dignitaries on the dias. He was identified as one of the potential and promising scholars of the community. There was a legal controversy related to Vīraśaiva community known Parali episode. When a Vīraśaiva devotee was

denied an opportunity to perform Abhiṣeka with Vedic mantras by the Brahmin priests of Sri Vaidyanāthamandir of Parali, one of the twelve sacred places of Śiva (dvādaśaliṅgas) on the pretext that Vīraśaivas do not enjoy the right of Vedādhyayana. He moved to the court of law seeking justice that Vīraśaivas do enjoy the right of the study of the Vedas and they are to be allowed to perform worship with Vedic Mantras in the Vaidyanātha Temple. The court was pleased to organise a Paṇḍitsabhā to present the arguments of both the parties. Śri Vīrūpākṣa Odeyar Mahāswāmy of Cauḍadādapura Maṭh of Dharwad and the first 'Vedatīrtha' title holder in the whole community was the leading scholar on behalf of the Vīraśaivas. The enthusiastic JVS was very much involved in the affair and assisted Sri Vīrūpākṣa Odeyar in collecting relevant references from Śruti, Smṛti and Purāṇa literature that support their stand. After three days of continuous deliberations, the verdict of the court went in favour of Vīraśaivas. The jubilent community congratulated and honoured befittingly all the people involved in the historic event. When JVS expressed a desire to become a 'Vedatīrtha' like Śri Virūpākṣa Odeyar, Śri Bapurao Deshmukh came forward and announced that he would extend all financial assistance to JVS to carry out his further studies. This public suport encouraged JVS to look towards Benaras, the traditional seat of learning for higher studies. Śri Gājulā Totaiah, a regular visitor of Jangamawadi Maṭh had made not only the travelling arrangements of JVS but also accompanied him to Benaras and saw that he was admitted in the Jagadguru Viśvārādhya Gurukula on 13-12-1925 in the benign presence of His Holiness Śrī Śivaliṅga Śivācārya, the then Pontiff of the Maṭha.

The Calcutta Sanskrit Association was the prestegious institution that was conducting the examinations and awarding titles in various disciplines of Sanskrit Śāstras. JVS had registered his name for Vedatīrtha title in 1926 and approached the eminent scholars of Benaras for their coaching and help. The scholars like Pandit Śrī Yogeshwara Pathak, Pandit Sri Vidyadhara Sharma, Pandit Sri Shivadatta Shastri, Pandit Sri Harinatha Shastri have agreed to teach their respective Śāstras. As JVS's only goal of life was to acquire the knowledge of as many Śāstras as possible, he

studied Smṛties, Dharmaśāstras, Purāṇas under their able guidance and obtained the titles 'Vedatīrtha' (1930), Kāvyatīrtha (1931), Smṛtitīrtha (1934). Meanwhile he had also appeared for the examinations and obtained 'Sāhityaviśārada' and 'Dharmācārya' titles of the Vrajamaṇḍali of Mathura in 1927. His multilingual talent helped him to learn epigraphy under the supervision of the then Principal of Sanskrit College, Mahāmahopādhāya Gopinath Kaviraj. He visited Uttarkāśi of Garhwal region in the Himālaya during the summar of 1929 and procured the inscription engraved on the pillar of Śaktistambha which was not deciphered so far. His article on this inscription was first published in the 'PURĀTATTVĀṄKA' a Hindi magazine from Bihar in 1933. Another article on 'Vijayāditya's Ammaṇigiśāsana' was published in the valume of Mahamahopādhyāya Rao Bahadur Pandit Gauriśankara Hirachand, a noted historian in the year 1935 by Bhartīya Anushilan, Prayag. Though he was in Benaras, he had maintained good rapport with the Telugu journals published from Hyderabad like the 'Nīlgiri Patrikā', 'Golkonda patrikā' and used to contribute articles and poems regularly. Thus he became popular among scholars as Pandit Cidiremaṭham Vīrabhadra Śarmā.

JVS was not only an academic stalwart but also an excellent social worker and able organisor. He was an active participant in the activities of SAMSKRITA SAHITYA SAMAJ of Varanasi and presented many learned articles and participated in the Seminars. The Samaj declared JVS as 'the Scholar of the year 1935' during its decennial celebrations and honoured him with the title VIDYĀRATNA in the presence of Mahāmahopādhyāya Pandit Mukund Jha Bhakshi on 2nd March 1935 for his remarkable achievement. The then Jagadguru of Jñānasiṁhāsanapīṭha His Holiness Pañcākṣara Śivācārya had arranged a special function to bless JVS with the title VIDYANIDHI in appreciation of his erudite scholarship. During his stay at Banaras he was very active in academic circles and in the activities of the Maṭha. In order to encourage young scholars to exhibit the literary talents he started 'Kāśī Vīraśaiva Vidvat Sangha' in the premises of Viśvārādhya

Gurukula and convened regular goṣṭhīs. Śri Vāgīśa Paṇḍitārādhya of Śrīśailapīṭha was the founder secretary of the Sangha. He also impressed upon the then Jagaduru Śivaliṅga Śivācārya the dire need of establishing a library in the Pīṭha. The proposal of JVS had such an effect that the Jagadguru was not only kind enough to accord permission but also donated one hundred rupees on the spot for the procurement of books to the library. The assembled scholars voluntarily presented some books from their personal collections. This is the edifice on which the forthcoming **Jñānamandira** was built. As a lover of books, JVS could built a Library of his own and used to move alongwith it whereever he had gone.

Having spent a fruitful decade in the acquisition of knowledge in Benaras JVS returned to Secunderabad to bring into reality of his long eherished dream of serving the Vīraśaiva community. As he was popular among elites as an erudite scholar, the management of the Śaṅkar Sanskrit College of Yadgir had invited him to be the Principal. Though he accepted the assignment, he could not continue longer and returned to Secunderabad. He was very much ambitious to start a gurukula to train Vīraśaiva student in Saṁskrit Śāstras to bring unity and awareness among Vīraśaivas and to publish Vīraśaiva literature available in Sanskrit to the Telugu speaking masses. He travelled extensively throughout the southern and western Provinces delivering religious discourses and participating in the Paṇḍitapariṣads and Vidvadgoṣṭhīs. The sudden untimely death of his sister and the blazing urge to do something significant, he remained as a bachelor for ever. Attracted by his dedicated personality, Śrī Matige Nagaiah couple, who have no issues, and a family of philonthropists, have donated a building of the worth of Rs.25,000 on those days to carryout the activities of JVS and made him the soule trustee of the property. One fine morning, on a holy day, he started Gurukula in Matige Nagaiah Dharmanilayam at Secunderabad for Vīraśaiva students with free boarding and lodging fecilities. He used to teach along with the other teachers. Then he contemplated to start a journal in Telugu which would

serve as a beacon light to spread the eternal values of Sanātanadharma in general and the preachings and practices of Vīraśaivas in particular. His untiring efforts could get the permission of the Nizam Government to start a monthly journal namely VIBHŪTI in 1939. The first copy of the journal was released on the auspicious occasion of ŚIVARĀTRI of Bahundhānya 1939 by His Holiness Śri Mummadi Siddhasambhu Swamy, the Pontiff of Bṛhanmaṭha, Chebrolu. Apart from being a prolific writer in Sanskrit, Telugu, Kannada, Marathi, Hindi he proved himself as an efficient editor, endowed with vision and high calibre. With research oriented and scholarly articles of high standard, the journal could wipe out the religious impresion denoted by its title VIBHŪTI among the readers. It was recognised as a popular literary journal of the day for Telugu speaking people. It could attract the attention of the Telugu literary stalwarts of the day like Śrī Nidadavolu Venkata Rao, Śrī Sannidhānam Suryanārāyaṇa Śāstri, Śrī Bandaru Thammayya, Śrī Koruganti Sitārāmaiah, Śrī Survarapu Pratāpa Reddy, Śiromaṇi C.H. Rangacaryulu, Śrī Vetturi Prabhākara Śāstry, Śrī Gadiyaram Rāmakṛṣṇa Śarmā, Śrī Nemana Suryaprakāśa Kavirāju, Sri K. Sundaresudu, Sri Seshadri Venkataramana Kavulu and others who have contributed their essays and poetic compositions. It was JVS, who could introduce the classical texts and research articles of highest standard to the Telugu readers in the form of supplements for the first time. The VIBHŪTI supplied 'Catussūtri' with Śrīkarabhāṣya in Telugu characters in seventeen issues containing eight pages each and also Sri Suravarapu Pratāpa Reddy's elaborate article of about 120 pages, namely, 'Rāmāyaṇa Viśeṣamulu'. Apart from contributing enlightening editorials at intervals, he discussed many topics like, the Socio-political conditions of the state, the current affairs of the world, the policies of the government, the plight and living conditions of the minorities and neglected sections of the people, the duties and responsibulities of Vīraśaivas etc., though his column 'Vibhūtivīthi' and 'Bhāvatarangālu'. The Nīrakṣīravivekam' is the only column that was continued uninterruptedly in all the issues of

the VIBHŪTI, in which JVS reviewed more than 180 books of different languages like Sanskrit, Telugu, Kannada, Hindi, Marathi and English. He authored around fifty essays and twenty five poems of varied length on various topics covering from the Vedas to the second world war. Those appeared not only in VIBHŪTI but also in many journals like NILAGIRI PATRIKĀ, GOLKOṆḌA PATRIKĀ, DIVYAVĀṆĪ, BHĀRTĪYA VAIŚYA and VIDYULLEKHĀ.

The series of Śivadharmagranthamālā was another long cherished ambitious scheme of JVS. Through he series the wanted to bringout he religio-cultural history of Śaivism and Vīraśaivism. He begun the work by publishing more popular and important articles appeared in VIBHŪTI in the form of small booklets by name 'bilvas'. The independent works like ŚIVAPAÑCASTAVI, ŚRI RENUKAVIJAYAMU, ŚRĪKARA-BHAṢYAMU with elaborate introductions both in Sanskrit and Telugu were followed in the series. He was very much interested to undertake a project to write a comphehensive history of Śaivism and Vīraśaivism, the origin of liṅga-worship, an elaborate exposition of the Nāṭyaśāstra, a compilation of Śivastotras etc. Though he was the only potential scholar to carryout this gigantic task, lack of financial resources and the responsibilities of the publication of the journal did not allow him to settle on the desk to accomplish the task.

Apart from these writings in Telugu he authorea some independent articles in other languages. He had written a Śataka in Sanskrit namely PAÑCAVIṀŚTI LĪLĀŚATAKA and a few small stotras, six articles in Kannada, two articles each in Hindi and Marathi.

As an eloquent and forceful orator in many languages, he was an indispensable speaker in almost all the religious, literary assemblies of the day held at different places of Telugu, Kannada and Marathi speaking areas. He spoke in many occasions, presided over many Pariṣads, participated in many conferences and was honoured befittngly. The antiquity of Vīraśaivism, the glory of Sanātanadharma, the protection of the dignity of Telugu language

in the Nizam State, the evolution of single script for both Telugu and Kannada Languaes were the popular topics of his discources that have drawn the attention of both the public and the press.

In 1940 he attended the mahārudrābhiṣeka of Vaidyanātha held at Parali and composed and read the stotra Śri Vaidyanātha Vaidika Pañcakaṁ. He played a keyrole in the installation ceremonies (Paṭṭābhiṣeka) of Śrī Pañcākṣara Śivācārya to Jñānasiṁhāsanapiṭha in 1932 and Śri Vāgīśa Panditārādhya to Śriśailapīṭha in 1940. He presented a felicitation address to His Highness Śri Chamarajendra Odeyar of Mysore, who paid a visit to Rambhāpuri Piṭha in 1941. The address was in the form of a composition in four languages— Sanskrit, Telugu, Kannada and Hindi. For one decade from 1935 to 1944, he reigned the literary kingdom as a powerful writer, a great poet, an erudite scholar, a master epigraphic and a successful editor. The flow of literary Ganges suddenly came to a standstill with the divine assignment from Benaras in the form of a death will of His Holiness Śri Pañcakṣara Śivācārya, who had mentioned the name of JVS as his successor to the pīṭha. He had to obey the divine order inspite of his strong longing for literature and service to local Vīraśaivites.

The installation ceremony (paṭṭābhiṣeka) of the 84th pontiff of the Jñānasiṁhāsanapīṭha was celebrated with pomp and religious fervour on 27-9-1944 under the auspices of His Holiness Śri Śivananda Deśikendra Śivācārya of Rambhāpuripīṭha. The new Jagadguru Virabhadra Śivācārya was blessed by elders by saints and greeted by his well-wishers on the occasion. At that time the financial conditions of the Maṭha were in such a bad shape that the maintenance of day to day activities of the maṭha was itself a problem. The strictures of the court still worsened the situation.

As soon as His Holiness JVS took the rigns of management the priorities were to see that the day today activities of the maṭha should be carried out uninterruptedly and the Maṭha was to be relieved from the clutches of the legal implications. His fervent appeal to the devoted individuals as well as the organisations of the community for liberal contributions had an astounding

response. Witin a short period, the situation improved to a greater extent and the Maṭh was debt free and started buzzing with academic and religious activities.

Then the attention of His Holinesss was concentrated on the developmental activities as to signify the very name of the Piṭha-Jñānasiṁhāsana, the throne of knowledge. His Holiness had started to bring into reality the ideas that he had cherished as an inmate of the Maṭha for a long period. He laid foundation for *jñanamandira* in the premises of the Maṭha and could complete the construction of the bulding within six months. He himself inaugurated it by presenting His rich collection of books procured since his childhood. The earstwhile Śivadharmagranthamālā Series, the publication wing, was attached to Śaiva Bhārati Series, the aim of which was to publish the entire literature that was available relating to Śaivism in general and Vīraśaivism in particular. The preference was given to publish the original texts in Sanskrit followed by the translation in Hindi and other vernaculars. His Holiness had also plans to bringout a journal in the name of 'ŚAIVA BHĀRATI' on the lines of VIBHŪTI but it could not be materialised. The Viśwārādhya Gurukula was rejunevated by improving the ameneties for the inmates who used to come from different parts of the country in persuit of Śāstrādhyayana and prospective Pīṭhādhīpatis of Vīraśaiva maṭhas. The fecilities provided for Kāśi visiting pilgrims for their comfortable stay had significantly enhanced the income of the Maṭha. The administration was streamlined. Thus the prestige and popularity of the Maṭha increased in leaps and bounds by the constant and vigilant supervision of His Holiness.

The significant change in the working of the Maṭha was achieved at the cost of the physical and mental attention of His Holiness. Obviously it affected on his health. Aware of his inability to survive further he nominated Śri Jagadguru Śivācārya of Kyatanur Maṭha as this successor in the will and attained Śivahood by leaving mortal coil on 25-1-1948. Jagadguru Vīrabhadra Śivācārya's services to the Jñāsiṁhāsanapiṭha are

gratefully recorded in the history of the Pīṭha as remarkable though His tenure was very short for His Holiness extricated the Maṭha from the gloomy condition and gave a fillip to its activities.

His Holiness Śri Viśveśvara Śivācārya, the 85th Pontiff of the Pīṭha had meticulously followed the path laid down by His predecessor in letter and spirit. The reigns of the Pīṭha were given to Dr. Chandraśekhara Śivācārya of Guledagudda Maṭha on 17-11-1989.

The seeds of vision, the plans of prosperity sown and nurtured by Jagadguru Vīrabhadra Śivācārya have grown into gigantic trees and fructified with the ever vigilant protection and care of His Holiness Jagadguru Dr. Chandraśekhar Śivācārya, under whose benevolent leadership the centenary celebrations of Jagadguru Virabhadra Śivācārya have been organised throughout the country and the memory of Jagadguru Vīrabhadra Śivācārya is immortalized.

—x—x—

Soures

1. VIBHŪTI (Journals 1939-1944)
2. SVALEKHA SANGRAHA (Cidirematham Virabhadra Śarmā)
3. VYĀSĀVALI of Sri Bandaru Tammayya.

OOO

वीरशैव मत में शक्ति-तत्त्व

•

श्री ष.ब्र.डॉ. महादेव शिवाचार्य स्वामाजी
बृहन्मठ, बबलेश्वर (कर्नाटक)

भारतीय धर्मदर्शन में वीरशैव धर्मदर्शन की भी एक भूमिका है। यह धर्मदर्शन आगमों पर आधारित है–

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्।।

सिद्धान्त शिखामणि की इस उक्ति से यह बात सिद्ध होती है। भगवान् शिव के द्वारा प्रतिपादित कामिक आदि वातुलान्त अट्ठाईस शैवागम सिद्धान्त आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पूरे अट्ठाईस आगमों को मानने वाले वीरशैव आचार्य इनसे द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। पूर्वोक्त अट्ठाईस शैवागमों के उत्तर भाग में वीरशैव सिद्धान्त प्रतिपादित है। अतः वीरशैव धर्म दर्शन का मूल अट्ठाईस आगमों को ही माना जाता है।

इस वीरशैव मत या धर्म का दर्शन शक्तिविशिष्टाद्वैत नाम से जाना जाता है।

शक्तिविशिष्टाद्वैत सम्मत शिव-शक्ति स्वरूप

वीरशैव दर्शन शिवाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत तथा विशेषाद्वैत आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। इन नामों में इस दर्शन का रहस्यार्थ छिपा है। उन नामों की व्युत्पत्ति से उसका यथार्थ बोध होता है। अतः संक्षेप में उन नामों की व्युत्पत्ति के बारे में हम थोड़ा सा विचार करते हैं–

१. शिवाद्वैत

"शिवश्च शिवश्च शिवौ तयोरद्वैतम्" इस शब्द की व्युत्पत्ति है। पहले शिव शब्द से परमात्मा अभिप्रेत है और दूसरे शिव शब्द से उसी के अंशीभूत

जीवात्मा सूचित है। संसार दशा में उपास्य और उपासक के रूप में विद्यमान इन दोनों की मुक्तावस्था में अद्वैत स्थिति को बताने वाला सिद्धान्त ही शिवाद्वैत सिद्धान्त है। जैसे "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्"।

२. शक्तिविशिष्टाद्वैत

शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ शक्तिविशिष्टौ शिवजीवौ, तयारेद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि सूक्ष्मचिदचित् शक्तिविशिष्ट शिव और अल्पज्ञत्व, अल्पकर्तृत्व आदि स्थूल चिदचित् शक्तिविशिष्ट जीव इन दोनों के अभेद को, अर्थात् अद्वैत को बताने वाला सिद्धान्त ही शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है।

भ्रमरकीट न्याय से इस सिद्धान्त की उपपत्ति की जाती है। जैसे भ्रमर से अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला कीट भ्रमर के निरन्तर ध्यान से भ्रमर बन जाता है, वैसे ही शिव से अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला जीव भी शिव का ही निरन्तर ध्यान करते करते अपनी संकुचित शक्तियों का विकास कर शिव स्वरूप हो जाता है। यही शक्तिविशिष्टाद्वैत का तात्पर्य है।

इसी प्रकार वीरशैव दर्शन का तीसरा नाम विशेषाद्वैत की व्युत्पत्ति– "विश्च शेषश्च विशेषौ, ईश जीवौ तयोरद्वैतं विशेषाद्वैतम्" इस प्रकार की जाती है और उसकी विस्तृत व्याख्या की जा सकती है।

वीरशैवों के इन दार्शनिक पारिभाषिक शब्दों के विश्लेषण से यही ज्ञात होता है कि यह सिद्धान्त भेदाभेद प्रतिपादक है। अतः इसको भेदाभेद और द्वैताद्वैत शब्द से अभिहित किया जा सकता है।

वीरशैव दर्शन में "शिव जीव शक्तयः इति त्रयः पदार्थाः" शिवाद्वैत परिभाषा की इस उक्ति के अनुसार शिव, जीव और शक्ति के तीन पदार्थ माने गये हैं। अतः इन तीनों के स्वरूप के बारे में अलग-अलग विचार करते हुए शक्तिविकसित शिव और शक्तिविकसित जीव का अभेद किस तरह होता है, उसको यहाँ पर संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है–

शिव का स्वरूप

वीरशैव दर्शन के अनुसार परतत्त्व स्थल, शिव इत्यादि अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है–

यत्रादौ स्थीयते विश्वं प्राकृतं पौरुषं यतः।
लीयते पुनरन्ते च स्थलं तत् प्रोच्यते ततः।।

(अनुभव सूत्र २.४)

लयगत्यर्थकयो हेतुभूतत्वात् सर्वदेहिनाम्।
लिङ्गमित्युच्यते साक्षाच्छिवः सकलनिष्कलः।।

(अनुभव सूत्र ३.४)

इस प्रकार मायिदेव ने अपने अनुभवसूत्र के इन श्लोकों में स्थल और लिंग की परिभाषा प्रस्तुत की है।

ब्रह्मेति व्यपदेशस्य विषयं यं प्रचक्षते।
वेदान्तिनो जगन्मूलं तं नमानि परं शिवम्।।

(सिद्धान्त शिखामणि १.२)

सिद्धान्त शिखामणि के इस वचन में भी परशिव का स्वरूप वर्णित है। सृष्टि के समय में परशिव में यह विश्व स्थित होता है और प्रलयकाल में उसी में विलय (विलीन) हो जाता है। अतएव उसे स्थल अथवा लिंग कहा गया है। सगुण और निर्गुण होने के कारण शिव को सकल-निष्कल भी कहते हैं। शिव अपनी शक्ति के संकोच से निर्गुण और शक्ति के विकास से सगुण हो जाता है। जगत् सृष्टि के समय में शिव को शक्ति अनेक रूपों में विकसित हो जाती है। अतः शक्तिविशिष्ट शिव सगुण कहलाते हैं, संहार के समय में शिव की शक्तियाँ संकुचति हो जाती हैं। तब वे निर्गुण कहलाते हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त में शक्ति के विकास से सृष्टि और इसके संकोच से प्रपंच का संहार होता है।

इसी तथ्य को भगवत्पाद श्रीपति पंडिताराध्य निम्न कथनों के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं।

सृष्टेः पूर्वं महादेवश्शक्तिसङ्कोचहेतुना।
निर्गुणत्वेन शास्त्रेषु गीयते तत्त्ववेदिभिः।।
सृष्ट्यादौ परमेशस्य शक्तेः प्राचुर्यवैभवात्।
सर्वज्ञत्वादिकल्याणगुणवानिति कीर्त्यते।।

(ब्रह्मसूत्र श्रीकरभाष्य १.३.७)

अर्थात् भगवान् परशिव महादेव ही शक्तिसंकोच के कारण सृष्टि के पूर्व तत्त्वज्ञों द्वारा निर्गुण रूप में स्वीकार किये गये हैं। वही सृष्टि के प्रारम्भ में अपनी स्वतन्त्र शक्ति के प्राचुर्य से तथा समस्त चराचर जगत् की सर्वज्ञता आदि द्वारा कल्याण करने के कारण सगुण रूप में कहे जाते हैं।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि अद्वैत वेदान्त द्वारा स्वीकृत जो ब्रह्म है, वह निर्विशेष नहीं है। अपने स्वरूप में संकोचावस्था में वह शक्ति और ज्ञान आदि गुणों के विकास के अभाव में निर्गुण कहा जाता हुआ सूक्ष्म रूप से उसके भीतर शक्ति के रहने से वह सविशेष ही व्यवहृत होता है। यही यहाँ अद्वैत वेदान्त से भेदमूलक वैशिष्ट्य है। इसीलिए श्री रेणुक भगवत्पाद ने कहा है–

परिच्छेद कथाशून्यं प्रपञ्चातीत वैभवम्।
प्रत्यक्षादि प्रमाणानामगोचरपदे स्थितम्।।
स्वप्रकाशं पराकाशमनौपम्यमनामयम्।
सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वशक्तिनिरङ्कुशम्।।

(सिद्धान्त शिखामणि, २.४-५.)

अर्थात् परमेश्वर विविध आख्यानों से अकथनीय प्रपञ्च से रहित वैभववाला और प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों से न जानने योग्य है। वह तो स्वप्रकाश, अवकाशरहित, अनुपम, एकाकी, सर्वज्ञ, सर्वत्र अव्याहत गति, शान्त, सर्वशक्तिमान् और परम स्वतन्त्र है। इस प्रकार वीरशैव दर्शन के अनुसार परतत्त्व अथवा परशिव का स्वरूप यही है।

शिव-शक्ति का सम्बन्ध

शिव और शक्ति के सम्बन्ध को कुछ लोग समवाय, कुछ लोग तादात्म्य मानते हैं, किन्तु वीरशैव सिद्धान्त में उन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध माना जाता है–

न शिवेन विना शक्तिर्नशक्तिरहितः शिवः।
पुष्पगन्धवदन्योन्यं मारुताम्बरयोरिव।।

(वीरशैवानन्द चन्द्रिका, पृ.७)

इस उपबृंहण वचन से श्री मरितोण्टदार्य जी ने शिव और शक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध किया है। सूर्य में प्रभा, चन्द्र में चन्द्रिका, अग्नि में दाह, पुष्प में गन्ध, शर्करा में मिठास और आकाश में हवा जैसे अविनाभाव सम्बन्ध से रहते हैं, वैसे ही शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में शिव और शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध को नित्य सम्बन्ध भी कहते हैं। अतः शक्तिविशिष्ट शिव से ही सारे प्रपंच की उत्पत्ति होती है, प्रत्येक वस्तु यत्किंचित् शक्तिविशिष्ट ही अनुभव गोचर रही है। जैसे कि पृथ्वी में धारणा शक्ति, जल में आप्यायन शक्ति, अग्नि में ज्वलन शक्ति, वायु में स्पन्द शक्ति, आकाश में व्यापन शक्ति, वृक्षादि में जलाकर्षण की शक्ति, चुम्बक मे सूच्याकर्षण शक्ति, वनस्पतियों में रोग निवारण शक्ति, मन्त्र आदि में विविध बाधा और भूत-प्रेत बाधा को दूर करने की शक्ति, विद्युत में नाना प्रकार के यन्त्रों को चलाने की शक्ति, इस प्रकार सभी वस्तुओं में शक्ति दिखायी पड़ती है।

शास्त्रों में शिव को सत्, चित् और आनन्द का स्वरूप माना गया है, अर्थात् वह अस्मि, प्रकाशे और नन्दामि इस अनुभव से युक्त है। इस प्रकार यह अनुभव ही उस शिव की विमर्श शक्ति कहलाती है। शिव में इस अनुभव को न मानने पर वह स्फटिक आदि के समान जड़ हो जायेगा। सौन्दर्यविशिष्ट अन्धे को अपने सौन्दर्य का ज्ञान न होने के कारण जैसे वह सौन्दर्य व्यर्थ हो जाता है, वैसे ही अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का विमर्श शिव को न होने पर उसे व्यर्थ मानना पड़ेगा, जो कि इष्ट नहीं है। अतः वीरशैव सिद्धान्त में मूल शिव को सच्चिदानन्द रूप विमर्श शक्ति से विशिष्ट माना गया है।

शक्ति के भेद

परशिव की वह शक्ति वस्तुतः एक होने पर भी सृष्टि के समय में स्वस्वातन्त्र्य बल से चिच्छक्ति, पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के नाम से छः प्रकार की हो जाती है (अनुभवसूत्र २.७, ३.२६)।

(क) चिच्छक्ति

सूक्ष्म कार्य कारणरूप प्रपंच का उपादान कारणीभूत शक्ति, चिच्छक्ति कहलाती है (शिवाद्वैत मञ्जरी, पृ.२७)। इसी को विमर्श शक्ति अथवा परामर्श

शक्ति भी कहते हैं। यह शक्ति बोधरूप है। इससे विशिष्ट होने के कारण ही परशिव को मैं हूँ, मैं प्रकाशमान हूँ और मैं आनन्दरूप हूँ' (इस प्रकार) इत्याकारक अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का बोध होता है।

परहन्तासमावेशपरिपूर्णविमर्शवान् ।
सर्वज्ञः सर्वगः साक्षी सर्वकर्ता महेश्वरः।।

(सि.शि. २०.३२)

श्री सिद्धान्तशिखामणि की इस उक्ति के अनुसार विमर्शशक्ति-विशिष्ट वह परशिव 'सर्वज्ञ', 'सर्वकर्ता', 'सर्वव्यापक' तथा 'सर्व कर्मों का साक्षी' बन जाता है। यह चिच्छक्ति ही शिवतत्त्व से पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों की तथा अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति स्थिति तथा लय का कारण बन जाती है (सि.शि.२०.२९, ३४)।

(ख) पराशक्ति

चिच्छक्ति के सहस्रांश से पराशक्ति का प्रादुर्भाव होता है (वातुल शुद्धाख्य तंत्र ३४)। यह आनन्द स्वरूपा है। इसे अनुग्रह शक्ति भी कहते हैं। इस शक्ति से युक्त होकर परशिव योगियों के ऊपर अनुग्रह करता है।

(ग) आदिशक्ति

पराशक्ति के सहस्रांश से आदिशक्ति का उदय होता है (वातुलशुद्धाख्य तंत्र १.२५)। प्रपंच के कारणीभूत इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों के आदिकारण होने से उसे आदिशक्ति कहते हैं। इस शक्ति से युक्त परशिव प्राणियों का निग्रह करते हैं।

(घ) इच्छाशक्ति

आदि शक्ति के सहस्रांश से इच्छाशक्ति का उदय होता है (वातुलशुद्धाख्य तंत्र १.१५)। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इन दोनों की साम्यावस्था को ही इच्छाशक्ति कहते हैं। यह इच्छाशक्ति ही अपने विद्यमान ज्ञान और क्रियाशक्तियों के माध्यम से विश्व को उत्पन्न करती है। विश्व संहार के समय यह विश्व पुनः इच्छाशक्ति में ही विलीन होकर रहता है। इस शक्ति से ही परशिव प्रपंच का संहार करता है। (शिवाद्वैतमञ्जरी, पृ.२७, ३४)।

(ङ) ज्ञानशक्ति

इच्छाशक्ति के सहस्रांश से ज्ञानशक्ति की उत्पत्ति होती है (वातुलशुद्धाख्य तंत्र १.२६)। इस ज्ञानशक्ति के कारण ही शिव 'सर्वज्ञ' कहलाता है और उसको अपने में विद्यमान प्रपंच का 'इदम्' इत्याकारक बोध होता है। इसीलिए इस ज्ञानशक्ति को बहिर्मुख शक्ति भी कहते हैं। इस शक्ति से युक्त होकर शिव प्रपंच की उत्पत्ति का निमित्तकारण बनता है और उत्पत्ति के अनन्तर उसका पालन भी करता है (शिवाद्वैतमञ्जरी, पृ.२७, ३४)।

(च) क्रियाशक्ति

ज्ञानशक्ति के सहस्रांश से क्रियाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है (वातुलशुद्धाख्य तंत्र १.२६)। यह क्रियाशक्ति प्रपंच का उपादान कारण है। क्रियाशक्ति से युक्त होने से शिव सर्वकर्ता बन जाता है। यही शिव की कर्तृत्व शक्ति है। इस शक्ति को स्थूलरूपा भी कहते हैं (शिवाद्वैतमञ्जरी, पृ.२७-३४)।

इस प्रकार परशिव की वह एक ही शक्ति प्रयोजनवश उपुर्यक्त छः रूप धारण कर लेती है। सृष्टि रचना के समय विमर्शशक्ति विशिष्ट परशिव ही शिवतत्त्व से पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के रूप में उसी तरह से परिणत हो जाते हैं, जैसे कि स्वर्ण विविध आभूषणों के रूप में परिणत हो जाता है। इस परिणाम को अविकृत परिणाम कहा जाता है। अतः यह प्रपंच शिवशक्तिमय है अर्थात् शिवशक्ति का विलास ही है।

शक्ति का स्वरूप

महार्थमञ्जरी परिमल टीका में संवित् शक्ति का विकासोल्लास निरूपित करते हुए बताया गया है कि संसार में सभी पदार्थ जो कुछ भी है, वह असाधारण शक्तिविशिष्ट ही है।

औष्ण्यं हुताश इव शीतलिमानमिन्दौ
शय्यासु मार्दवमिवाश्मसु कर्कशत्वम्।
बाह्येषु मोह इव योगिषु च प्रबोधः
स्वातन्त्र्यमस्ति हि नियन्त्रयितुर्महन्मे।।

(महेश्वरानन्द कृत महार्थमञ्जरी परिमल टीका-संविदुल्लास, पृ.३९)

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में तेज यानी उष्णता, चन्द्रमा में शीतलता, शैय्या में मृदुता, पत्थर में काठिन्य, संसार में मोह और योगियों में ज्ञान स्वाभाविक रूप से विराजमान होता है, उसी प्रकार शिव भी अपने स्वातन्त्र्य शक्ति से नियन्त्रित है, ऐसा कहने में कोई सन्देह नहीं है। परशिव के इस शक्ति का क्या स्वरूप है? ऐसी उत्कण्ठा होने पर श्री शिवयोगी शिवाचार्य कहते हैं– तदीया परमाशक्तिः सच्चिदानन्द लक्षणा (सि.शि.२.१२)। अर्थात् परमेश्वर की परमाशक्ति सच्चिदानन्द स्वरूपिणी है। उसी प्रकार ''गुणत्रख्यात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी'' (सि.शि.५.३९)। वीरशैव सम्प्रदाय के आचार्यों ने त्रिगुणा और ब्रह्मनिष्ठ सनातनी शक्ति को स्वीकार किया है।

इस सन्दर्भ में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि शक्ति तत्त्वतः एक ही है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से उसके दो भेद हैं–

१. अविभागपरामर्शरूपा शक्ति।

२. विभागपरामर्शरूपा शक्ति

१. अविभाग परामर्श रूपा शक्ति

परामर्श की अवस्था में परशिव की भाँति सच्चिदानन्द स्वरूपिणी है अर्थात् सत्-चित् और आनन्द स्वरूप परशिव मैं ही हूँ, मेरा ही प्रकाश सर्वत्र प्रकाशित है और मेरा ही आनन्द सबको आनन्दित किये हुए है, इस प्रकार के जो अनुभव है वस्तुतः वही 'विमर्शशक्ति' के नाम से कहा जाता है। यदि यह अनुभव परशिव में न होता, तो स्वप्रकाश शिव स्फटिकमणि के समान भास्वर होते हुए भी जड़ के ही सदृश हो जाते। ऐसी कल्पना करने पर अविभाग-परामर्शरूपा शक्ति सच्चिदानन्द स्वरूप होते हुए भी उसका सौन्दर्य-माधुर्य व्यर्थ हो जाता है। इसीलिए इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए श्री शिवयोगी शिवाचार्य ने परम आनन्द स्वरूपिणी और ज्ञान की लहरी के रूप में शक्ति को स्वीकार किया है और परमानन्द प्रबोध स्वरूप मानकर उनकी स्तुति की है– 'वन्दे तां परमानन्दप्रबोधलहरीं शिवाम्' (सि.शि. १.११)।

यही भगवती शक्ति जगदुत्पत्ति के समय इच्छा-ज्ञान और क्रिया के रूप में विभाग परामर्श दशा को प्राप्त कर सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से लिप्त होती हुई माया कही जाती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी इस शक्ति को माया कहा गया है। यहाँ माया का अर्थ मिथ्या नहीं है, किन्तु 'मं शिवम् अयति

स्वभावत: प्राप्नोतीति माया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शिव में स्वाभाविक रूप में रहने वाली शक्ति ही माया है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि शक्ति सच्चिदानन्द रूपिणी है और माया उसका परिणाम है। यही विमर्शशक्ति चितिशक्ति के रूप में भी जानी जाती है। जिस प्रकार चन्द्रमा में चन्द्रिका है, उसी प्रकार परशिव में अभेद भाव से स्थित चिति शक्ति विमर्शशक्ति के रूप से विचित्र जगत् के रचना का कारण बनती है। चिति शक्ति के परशिवनिष्ठ होने से परशिव ही ब्रह्म संज्ञक होकर विश्व के रचयिता माने जाते हैं। इसी तथ्य को रेणुक भगवत्पाद ने सिद्धान्त शिखामणि में प्रदर्शित किया है–

विमर्शाख्या पराशक्तिर्विश्ववैचित्र्यकारिणी।
यस्मिन् प्रतिष्ठिता ब्रह्म तदिदं विश्वभाजनम्।।

(सि.श.२०.३६)

यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी।
तथा शक्तिर्विमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा।।

(सि.शि.२०.३८)

शक्ति की सत्ता (या सत्) होने में क्या प्रमाण है? वह शक्ति कौन है? ऐसी जिज्ञासा के दो उत्तर दिये जा सकते हैं।

१. लोकानुभव प्रमाण
२. शास्त्रों का प्रमाण

लोक के अनुभव में ऐसा देखा जाता है कि कदाचित् जलती हुई अग्नि में चन्द्रकान्त मणि अथवा मन्त्रबल से अग्नि की दाहकता शीतल सी प्रतीति होने लगती है, जैसे किसी मन्त्र शक्ति से आग की तापशक्ति निकाली जा सकती है। उसी प्रकार कीटाणुओं अथवा मूषक आदि के द्वारा खा लिये जाने तथा सूँघ लिए जाने पर कोई बीज पृथ्वी में बोये जाने पर भी अंकुरित नहीं होता है। अत: इस लोकानुभव से यह सिद्ध होता कि अग्नि में अतिरिक्त अंकुर को उत्पन्न करने वाली शक्ति रहती है। ऐसी शक्ति और शक्तिमान् में न तो अत्यन्तिक भेद है न ही अभेद।

इस प्रकार इससे यह सिद्ध होता है कि सभी वस्तुओं में उसकी शक्ति अन्तर्गर्भित रहती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसी भाव को परशिव की शक्ति

विविध रूप में ज्ञान-बल और क्रिया रूप में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है, ऐसा कहा गया है-

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

(श्वे.उ.६.८)

इस उपनिषद् में माया को प्रकृति और माया से युक्त को महेश्वर कहा गया है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(श्वे.उ.४.१०)

शैव दर्शन इसी तत्त्व का यानि शक्ति तत्त्व का प्रतिपादन इस रूप में किया गया है कि शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव नहीं रह सकते हैं- "न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिहितः शिवः।" (वी.आ.च., पृ.७)।

इस प्रकार शास्त्रकारों ने उपर्युक्त रीति से परशिव को शक्तिमान् स्वीकार किया है।

शिव और शक्ति का सम्बन्ध

शिव और शक्ति का परस्पर सम्बन्ध समवाय मूलक है, ऐसा कुछ आचार्यों का अभिमत है। कुछ आचार्य दोनों के परस्पर सम्बन्ध को तादात्म्य के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु वीरशैव दर्शनकार शिव और शक्ति का सम्बन्ध "अविनाभाव" रूप में मानते हैं। वस्तुतः समग्र दृष्टियों से विचार करने पर शिव और शक्ति का परस्पर अविनाभाव अथवा अभेद सम्बन्ध ही मानना उचित है, क्योंकि ऊपर हम कह आये हैं कि "न शिवेन विना शक्तिः न शक्तिरहितः शिवः" अर्थात् शिव के बिना शक्ति नहीं और शक्ति के बिना शिव नहीं रह सकते हैं।

इसी तथ्य को आचार्य मरितोण्टदार्य भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि शिव शक्ति का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा पुष्प और उसकी सुगन्ध तथा मरुत और अम्बर का है-

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
पुष्पगन्धवदन्योन्यं मारुताम्बरयोरित।।

(वी.आ.चं., पृ.७)

श्री रेणुक भगवत्पाद भी इसी पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार चन्द्र में स्थित चन्द्रिका समस्त वस्तु का प्रकाश करती है उसी प्रकार परब्रह्म में स्थित विमर्श रूपा शक्ति चराचर जगत् का कारण होती है–

यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी।
तथा शक्तिर्विमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा।।

(सि.शि. २०-३८)

अतः इन समस्त उदाहरणों से शिव-शक्ति का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध सुनिश्चित है।

आचार्यों के उदाहरणों से जैसे पुष्प और गन्ध, चन्द्रमा और चन्द्रिका में परस्पर न तो भेद है और न ही अभेद, किन्तु भेदाभेद तो है ही। इसी प्रकार परशिव की स्वतन्त्र अवस्था में जो उनकी समवायिनी विमर्श शक्ति है, वह उससे अभिन्न होती हुई भी जगत् के विस्तार की अवस्था में क्षुभित होती हुई विश्व के स्वरूप में परिणत हो जाती है, ऐसा मानने पर शिव और शक्ति के अवस्था और काल-भेद से भेदाभेद सम्बन्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में अविनाभाव सम्बन्ध भेदाभेद में पर्यवसित हो जाता है। (पर्यवसति होना– परि अवसान–पर्यावसान पाना - सम्मिलित होना)।

आचार्यों के उपर्युक्त कथन को पुराण वाङ्मय की तुला पर जब हम तौलते हैं, तब कूर्म पुराण में ऐसा कहा गया है कि यह शक्ति ही शिव है और शिव ही शक्तिमान् है, इन दोनों का परस्पर भेद तो केवल रहने के लिए है इसलिए तत्त्व चिन्तक योगीजन दोनों में तात्त्विक दृष्टि से अभेद ही मानते हैं–

एषा शक्तिः शिवा ह्येतत् शक्तिमानुच्यते शिवः।
शक्ति शक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः।।
अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः।।

(कूर्मपुराणे)

भारतीय मनीषा के महान् चिन्तक तथा कविकुल गुरु महाकवि कालिदास भी उपर्युक्त सिद्धान्तों को अपने अमर महाकाव्य रघुवंश में वाक् और अर्थ की भाँति अविनाभाव से स्थित परस्पर सम्पृक्त जगत् के माता-पिता के रूप में पार्वती और परमेश्वर की वन्दना करते हैं–

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

(रघु.१.१)

परशिव ही महेश्वर है

पहले कही गयी पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से पाँचों पञ्चाङ्ग विशिष्ट होकर सच्चिदानन्द बोध रूप परशिव के साथ समरस होकर भेद की दशा में अर्थात् विभाग परामर्श दशा में विमर्श नाम की शक्ति कहलाती है। हमारे इस कथन का यह तात्पर्य है कि शिव की सृष्टि रचना की स्थिति में चित्-शक्ति सत्व-रज-तम त्रिगुणात्मिका हो जाती है। इसी तथ्य को वीरशैव दर्शन में महामाया-परामाया और ऊर्ध्वमाया इत्यादि नामों से कहा जाता है, ऐसी महामाया से युक्त होकर परशिव ही महेश्वर हो जाता है।

यही बात श्वेताश्वतरोपनिषद् में माया को प्रकृति और मायीय को महेश्वर कहकर दोनों के अवयवभूत यह समस्त संसार माना गया है-

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।

(श्वे.उ. ४.१०)

जिस प्रकार माया से सम्बद्ध होने के कारण परशिव को महेश्वर कहा गया है, उसी प्रकार परशिव से सम्बद्ध होने के कारण शक्ति भी माया शब्द से कही जाती है। सिद्धान्तागम में मं को परशिवब्रह्म स्वभावतः माना गया है, वही मं संसार में ब्रह्मनिष्ठ सनातनी माया कही जाती है-

मं शिवं परमं ब्रह्म प्राप्नोतीति स्वभावतः।
मायेति प्रोच्यते लोके ब्रह्मनिष्ठा सनातनी।।

(इति श.वि.सि., पृ.३)

सृष्टि का विकास (छत्तीस तत्त्व)

"एकमेवाद्वितीयम्", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण के अनुसार अद्वितीय, सच्चिदानन्दस्वरूप, सत्य, नित्य, सकलचराचर, प्रपंचस्वरूप परम परात्पर परशिवब्रह्म में अविनाभाव सम्बन्ध

से विद्यमान विमर्शशक्ति का स्फुरण ही षट्त्रिंशत्प्रकारक तत्त्वरूप में परिणत होता है। इस प्रकार शिवादि भूम्यन्त (पृथिव्यन्त) छत्तीस तत्त्वों का विकास क्रम बताया गया है।

वीरशैव सिद्धान्त के अनुसार पहला तत्त्व शिव, दूसरा शक्ति, तीसरा सदाशिव इस प्रकार छत्तीसवाँ तत्त्व पृथिवी पर्यन्त कुल छत्तीस तत्त्व बताये गये हैं, जो श्रुतिसिद्ध हैं। इसी विषय को ''बृहज्जाबालोपनिषद् तथा महानारायणोपनिषद् ने भी प्रतिपादित किया है। इन तत्त्वों का मूल कारण सूक्ष्मचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्ट परशिव ही है। अतः सिद्धान्त शिखामणि में–

त्रैलोक्यसम्पदालेख्य समुल्लेखनभित्तये।
सच्चिदानन्दरूपाय शिवाय ब्रह्मणे नमः।।

यस्योर्मिबुद्बुदाभासः षट्त्रिंशत्तत्त्वसञ्चयः।
निर्मलं शिवनामानं तं वन्दे चिन्महोदधिम्।।

(सि.शि. १.१,३)

इत्यादि रूप से ग्रन्थकार शिवयोगी शिवाचार्य ने ग्रन्थारम्भ में स्तुति के समय परशिव के छत्तीस तत्त्वों के मूलकारणत्व को निरूपित किया है।

छत्तीस तत्त्वों के विकास क्रम में शक्तितत्त्व की भूमिका

सकल ब्रह्माण्डादि से सम्पन्न परशिव एक सर्वैश्वर्य सम्पन्न महाराजा की तरह रहते हुए ऐसी केवलावस्था में उसके अन्दर सुस्ती या निढालपना आ जाती है। उस प्रकार की सुस्ती की निवृत्ति हेतु उस परशिव की लीला में स्वाभाविक रूप से प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। उस समय ''स ईक्षाञ्चक्रे'' (प्रश्नोपनिषत् ६.३) तथा ''तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय'' (छान्दोग्योपनिषत्, ६.२.३) आदि श्रुति की वाणी के अनुसार ''इदं जगत् सृजेयम्'' अर्थात् इस विश्व की रचना करूँ, ऐसी इच्छा पैदा होती है। इस प्रकार की इच्छा की वजह से जैसे निस्तरंग सागर में वायु के सम्पर्क से कुछ कम्पन या विचलन होता है, ठीक उसी प्रकार परमात्मा में कुछ विक्रिया अर्थात् विकार आता है, यह अल्पचलन रूपी प्राथमिक अभियोग विमर्शशक्ति कहलाती है। परशिव की इच्छारूपी विमर्शशक्ति पुनः दो आकार में विकसित हो जाती है– एक अन्तरंगभूत ज्ञानशक्ति और दूसरी बहिरंगभूत क्रियाशक्ति कहलाती है। इस रीति से आघात पाकर वह विमर्शशक्ति, इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में तीन आकार धारण करती है। रेणुक भगवत्पाद की यह उक्ति प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करती है–

गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी।
तद्वैषम्यात् समुत्पन्ना तस्मिन् वस्तुत्रयाभिधा।।

(सि.शि. ५.३९)

इसका तात्पर्य यह है कि विमर्शशक्ति की दो अवस्थाएँ होती हैं। एक "अविभागपरामर्शा अवस्था" और दूसरी "विभागपरामर्शा अवस्था"। सृष्टि के पूर्व में यह विमर्शशक्ति "मयूराण्डरस न्याय के अनुसार– अर्थात् मयूर के अण्डरस में जैसे भावी पक्षी के चोंच, पर, पैर वर्णवैचित्र्यादि अंग-प्रत्यंग विभाग से (अलग से) नहीं दिखायी देते हैं, उसी प्रकार सृष्टि की कारणीभूत इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तिरूप में विभाग हुए बिना उचित रहती है। इसी को "अविभागपरामर्शदशा" कहते हैं। सृष्ट्युन्मुख अवस्था के दौरान यही विमर्शशक्ति इच्छा-ज्ञान व क्रिया के रूप में परिणमित होती है, यही अवस्था "विभागपरामर्शदशा" कहलाती है। (सि.शि.५.३९ तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या)। सृष्ट्युन्मुखीभूत परशिव से आरम्भ में इच्छा आदि शक्तियों की उत्पत्ति हुई, यह बात आगम में भी कही गयी है–

अनादिनिधनाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्।
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया।।
तत्रोत्पन्नानि भूतानि भुवनानि चतुर्दश।।

(शिवाद्वैतमञ्जरी, पृ.३२)

इस शिवागम प्रमाणानुसार उत्पत्तिनाशरहित परमकारण और शान्त परमशिव से सर्वप्रथम इच्छाशक्ति का, उस इच्छा शक्ति से ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तियों का आविर्भाव होता है। उसी प्रकार इन तीनों शक्तियों से चतुर्दश भुवन और चराचर जगत् उत्पन्न होते हैं।

१. शिवतत्त्व

छत्तीस तत्त्वों के अनुक्रमानुसार पहला शिवतत्त्व है। उपर्युक्त इच्छाशक्ति के अन्तरंग भूत ज्ञानांश से अनुपविष्ट परशिव चैतन्य ही शिवतत्त्व माना जाता है (दूसरे ढंग से हम कह सकते हैं कि जब परशिव ज्ञानशक्ति में एकाकार होकर "मैं सर्वज्ञ हूँ" इस प्रकार के अभिमान को प्राप्त कर लेता है, तब उसे "शिव तत्त्व" कहते हैं। मकड़ी जैसे अपने जालों का निमित्त कारण और उपादान भी है, उसी प्रकार शिवतत्त्वात्मक परशिव ब्रह्म ही ज्ञान विशिष्टत्वाकार

से भावी चराचर प्रपंच का निमित्त और उपादान कारण है। शिवतत्त्व ही शिव, नीलकण्ठ, चन्द्रशेखर, त्रिलोचन आदि नामों से जाना जाता है। इसका सगुणरूप ही मुमुक्षुओं का उपास्य बन जाता है।

२. शक्तितत्त्व

षट्त्रिंशत् तत्त्वों की गणना में अनुक्रमानुसार दूसरा स्थान शक्तितत्त्व का है। उपर्युक्त इच्छाशक्ति के बहिरंगभूत जो क्रियांश है, उसके द्वारा अनुप्रविष्ट परशिव चैतन्य ही शक्तितत्त्व कहलाता है। परशिव जब क्रियाशक्ति में लीन होकर "मैं सर्वकर्ता हूँ" ऐसे अभिमान से निविष्ट हो जाता है, तब वही "शक्तितत्त्व" कहा जाता है। मकड़ी जालोत्पत्तियोग्य शरीरविशेष विशिष्टत्वाकार से जाल का जैसे उपादान कारण है, वैसे ही यह शक्तितत्त्वात्मक परशिव ब्रह्म ही क्रिया-विशिष्टत्वाकार से भावी चराचर प्रपंच का उपादान कारण भी होता है।

एक परशिव ब्रह्म ही इस प्रपंच का अभिन्न निमित्तोपादान कारण हुआ करता है, यह विषय मुण्डक श्रुति में- "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" (मुण्डक उ., १.१.७) इस वाक्य से दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादन किया गया है। यही शक्ति सदाशिवादि भूम्यन्त तत्त्वों का उपादान कारण मानी जाती है। सिद्धान्त शिखामणि में कहा गया है-

> **सदाशिव मुखाशेष तत्त्वमौक्तिकशुक्तिकाम्।**
> **वन्दे माहेश्वरी शक्तिं महामायादिरूपिणीम्।।**
>
> **(सि.शि.२.२)**

अर्थात् सदाशिवादि भूम्यन्त सभी तत्त्व रूपी मोतियों को सीप के सदृश रहनेवाली (अर्थात् सकल तत्त्वों की जननी कहलानेवाली) शुद्धविद्या, महामाया, प्रकृति, पराविद्या, परबिन्दु कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म आदि नामोंवाली शिव से समवेत चिच्छक्ति की मैं वन्दना करता हूँ। उसी ग्रन्थ में रेणुकाचार्य बताते हैं-

> **तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्द लक्षणा।**
> **समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी।।**
> **तदिच्छयाऽभवत् साक्षात्तत्स्वरूपानुसारिणी।।**
>
> **(सि.शि., २.१२-१३)**

इसका तात्पर्य यह है कि शिव सम्बन्धिनी पराशक्ति सत्, चित् और आनन्दस्वरूपा होती है। फिर भी समस्त जगत् के निर्माण कार्य में जैसे तन्तु से ही पट बनता है, वैसे ही स्वयं ही उपादान कारणत्व से जगत् के रूप में परिणमित होती है। पुनः प्रलयकाल के दौरान शिवेच्छा से सभी संसार को अपने में समेट कर शिव के साथ अभिन्न रूप से रहती है। जैसे मयूर के अण्डे का रस एक होने पर भी उसी में पर-पैर, चोंच आदि अंगोंपांग समाविष्ट रहते हैं, उसी प्रकार शक्ति में अभिन्न होते हुए भी यह जगत् ज्ञान-कर्मेन्द्रियगोचर हुए बिना अवस्थित होता है।

ऐसा जगत् बाहर सृष्टि के समय, एक वृक्ष में फूल-पत्ते-फल आदि लगने के बाद भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ने के समान भिन्न दिखायी देता है। फिर भी वस्तुतः फूल-फलादि मूलतः एक ही होने से जगत् भी शक्तिस्वरूप होता है। इस प्रकार शक्ति और जगत् के बीच में भेदाभेद दोनों विद्यमान है। यही शक्ति जगत् संहार या प्रलय अवस्था में, जैसे कछुआ बाहर फैलाये गये अपने अंगोंपांगों को अपने अन्दर समेटकर छिपा लेता है, वैसे ही बाहर प्रकटित सारे विश्व को अपने में ही ऐक्यभाव से समेट कर शिवाऽभिन्न अवस्था में स्थित रहती है।

इस शक्ति तत्त्व के बाद सदाशिव तत्त्व, ईश्वरतत्त्व, शुद्धविद्यातत्त्व, मायातत्त्व इसके बाद कला आदि पाँच तत्त्व इस प्रकार इन तत्त्वों की शृंखला बढ़ती हुई अन्त में पञ्चमहाभूतों में एक महाभूत पृथिवी तक आकर पूर्ण होती है।

इस प्रकार हमने वीरशैव मत में अर्थात् वीरशैव धर्म दर्शन में शक्तितत्त्व के स्वरूप को यानी विराटस्वरूप की एक छटा या झांकी को दर्शाने का अलग प्रयास किया है। अतः विविध दर्शन शास्त्र के विद्वान् एवं जिज्ञासु अनुशीलन कर्तागण तथा समालोचक मनीषी महानुभाव यह हमारा छोटा सा शोध आलेख का अवलोकन कर यथा स्थान दिखी गयी त्रुटियों को ठीक कर सूक्त मार्गदर्शन करने का कष्ट करें यही प्रार्थना के साथ विराम लेते हैं।

OOO

वीरशैवागमोक्तः शिवयोगः

डॉ. कमलेश झाः
अध्यक्ष, धर्मागम विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

नृत्यद्भिर्भवभूमिकाभिरनिशं रङ्गेऽत्र भूतैः सह
कालोऽयं दुरतिक्रमोस्ति सकलैः सिद्धैः सुरैर्योगिभिः।
यः कालं कलनामयं स्वजनितं जानाति कालाधिपो
देवोऽसौ जयताद् विकल्परहितो रामेश्वरो योगिराट्।।[१]

जयति श्रीयोगीश्वरो भगवान् शिवः परमः कारुणिकः। पञ्चकृत्यपरायणोऽसौ चिदानन्दैषणाज्ञानक्रियाशक्तिसुनिर्भरः किल लोकोद्धाराय पञ्चभिर्मुखै निगमागमानुपदिदेश। तत्रास्य सद्योजातमुखाद् ऋग्वेदः, वामदेवमुखाद् यजुर्वेदः, अघोरमुखात् सामवेदः, तत्पुरुषमुखाद् अथर्ववेदः अथ च ईशानमुखाद् अष्टाविंशतिरागमाः प्राकट्यमुपजग्मुः।

सामान्यरूपेण निगमशब्दो वेदवस्तुनि प्रयुज्यते। आगमशब्दस्तु तन्त्रवस्तुनि। शिवात् प्रभवताम् आगमानां, शिवप्रभवाद् निगमाद् अविरोधः। यदुक्तं श्रीनील-कण्ठशिवाचार्येण–

परस्पराविरुद्धार्थाः शिवोक्ता निगमागमाः।
अल्पबुद्धिभिरन्योन्यं विरोधः परिकल्प्यते।।[२]

अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितम्।[३] अज्ञानस्यानादित्वाद् बन्धस्याप्यनादिता आस्थीयते। अनादिकालाद् बद्धानणून् मोचयितुमनुग्रहपरायणः कारुणिकः शिव एव समर्थो नान्यः। यदुक्तम्–

व्याधीनां भेषजं यद्वत् प्रतिपक्षः स्वभावतः।
तद्वत्संसारदोषाणां प्रतिपक्षः शिवः स्मृतः।।[४]

---

१. संवित्स्वातन्त्र्यम्-तुलना-४३
२. क्रियासारः-उद्धृतम्=सूक्ष्मागमे उत्तरभागे शुभाशीर्वचने,
३. तुलना-पूर्णताप्रत्यभिज्ञा-२/४४१,४६५
४. शिवधर्मोत्तरम्-उद्धतं सारस्वती सुषमा पृ.३२ टिप्पणी ३

निगमानामिव आगमानामपि मुक्तिस्तु ज्ञानादेवेति पार्यन्तिकः सिद्धान्तो नाविदिततमः प्रेक्षावताम्।

सम्प्रति पदार्थत्र[१]यविवेचनमुखेन सकारणबन्धविनिवृत्तिपुरःसरं शिवात्मत्वप्रतिपत्तिर्मोक्षद्वारमिति आगमिकसिद्धान्तः समीक्ष्यते। शिवात् प्रवृत्तमागमज्ञानम् आत्मभेषजम्, अमृतरूपम्, सुखप्रदञ्चास्ते। यदुक्तम्–

ज्ञानमेतच् शिवक्ष्मोत्थं संगृहाणात्मभेषजम्।
परिणामसुखं स्वादु विशेषगुणदर्शकम्।।[२]

"शिवज्ञानामृतं पीत्वा विचरस्व यथासुखम्।।"[३]

त्रिविधः पदार्थः

एतस्य सिद्धान्तस्य समर्थने पतिः, पशुः, पाश इति त्रयाणां पदार्थानामवधारणा विधीयते।[४] अस्यामवधारणायां मूलभूतमेतद् मृगेन्द्रागमवचनमास्ते–

त्रिपदार्थं चतुष्पादं महातन्त्रं जगत्पतिः।
सूत्रेणैकेन संहृत्य प्राह विस्तरशः पुनः।।[५]

तत्र पतिः षडङ्गः शिवः। स चैकोऽनादिरनन्तोऽस्पृष्टबन्धमुक्तिव्यवस्थश्चकास्ति। अणुसंज्ञिताः प्राणिनः पशुपदेनोच्यन्ते। तृतीयः पदार्थः पाश इत्युच्यते। पाशेन पाशिताः पशवो भवन्ति। शिवस्तु पाशमुक्तो भवति। यदुक्तम्–

"पाशमुक्तः शिवः प्रोक्तः पाशबद्धः पशुः स्मृतः।
सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य।।"[६]

पतिः शिवः

शैवागमे पतिपदार्थो भगवान् शिवः। अचेतनस्यापि मायादेः प्रवर्तनेन सततोदित एष एव समस्तं जगत्प्रपञ्चं वितनुते। पतिरसौ सर्वज्ञः, अनादिः,

---

१. मृगेन्द्रतन्त्रम्, विद्यापादः २.१.२
२. पराख्यसूत्रम्, उद्धृतम-सा.सु. उद्धृत-३२
३. ज्ञानधर्मोत्तरम् तत्रैव-४
४. तत्त्वप्रकाशः उद्धृतं सर्वद.सं.पाशुपतदर्शनम्।
५. विद्यापादः २.१.२
६. वायुपुराणम् १२.३३ एवं अनुभवसूत्रम् ४.२०

मलवर्जितः निगमैरप्यगम्यवैभवः शिवसंज्ञश्च ज्ञानशक्त्या[१] सर्वं विजानाति, क्रियाशक्त्या च षट्त्रिंशत् तत्त्वमयं जगत्प्रपञ्चं रचयति। अतः पतिरेव सृष्टिकर्ता, न पशुर्न वा पाशः। एतस्यैव प्रेरणया अचेतनस्य प्रपञ्चस्य तत्र-तत्र प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा भवति। यदुक्तम्-

अचेतनस्य मायादेः प्रवर्तकतया पतिः।
सिद्धः सर्वार्थकृत् कर्ता व्यापकः सततोदितः।।[२]

जगतः कर्ता देही?

"शाक्तं शरीरं भगवतः साकारता च" इति सर्वदर्शन-संग्रहवचनात्[३] "शुद्धयोनिमयं तस्य वपुरुक्तमकल्मषम्" इति किरणोक्तेश्च[४] जगतः कर्तुः शिवस्य यद्यपि शरीरिता प्रतिभाति अथापि भौतिकशरीरसम्बन्धः समुचितो न प्रतिभाति। अतः शिवस्य बैन्दवं शरीरमङ्गीकार्यम्। किन्तु विचार्यताम्- शिवशरीरं यदि बिन्दूपादानकं तर्हि बिन्दोः उपादानताया उपपत्त्यै तत्र क्षोभ एष्टव्यः। स च क्षोभः स्वत इष्यते शिवतो वा? आद्ये आत्माश्रयो दोषः। अन्त्ये क्षोभक्रिया-प्रयोजके शिवे शरीरिता पुनरेष्टव्या। तस्यापि शरीरस्य कृते उपादानभूतो बिन्दुः कल्पनीयः। तत्र च बिन्दौ क्षोभक्रियायै पुनः शिवशरीरान्तरं कल्पनीयम् इत्येवम् अनवस्थादौस्थ्यं स्यात्।

अथोच्यते- जगतः सृष्ट्यर्थं स्वीकृते शरीरे क्षोभक्रिया न शरीरान्तरसापेक्षा अपितु अचलमूर्तिकृतैवेति। तर्हि "अन्ते रण्डाविवाहश्चेद् आदावेव कुतो नहि" इति न्यायेन जगतः सृष्ट्यर्थं शिवशरीरावधारणमपि वृथैव परिकल्प्यते। अचलमूर्तेरेव परमेश्वरस्य सृष्टिक्रियास्वपि शरीरं विनैव कारणत्वोपपत्तेरिति।

एतदुक्तम्भवति- यथा स्वशरीरस्पन्दादौ स्वातन्त्र्येण आत्मनः कर्तृत्वं भवति तथा सृष्ट्यादिक्रियास्वपि शरीरं विनैव कारणत्रितयराहित्येन प्रभोः शिवस्य कर्तृत्वं न विहन्यते। तद्यथा- **अदेहस्यापि कर्तृत्वं स्वदेहप्रेरणे यथा।**[५]

---

१. महिमानं महोदव ज्ञातुं स्तोतुं तव प्रभो! श्रुतयोऽप्यसमर्था हि मादृशानां कुतो मतिः।। देवीकालोत्तरागमः-७८

२. विश्वसारोत्तरसूत्रम्

३. पाशुपतदर्शनम्

४. सा.सु.३९ वर्ष, पृ. ३३

५. पौष्करसंहिता उद्धृत, सा.सु. वर्ष ३९ पृ.३३

पत्युर्नेन्द्रियादिकम्

"अवागमनाः" "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्य-कर्णः"[१] इति औपनिषद-सिद्धान्तवत् आगमसिद्धान्तेपि पत्युः सृष्ट्यादिकर्मणि यथा शरीराभावेपि, कर्तृत्वं न विरुध्यते तथा शरीराधिष्ठानकानामिन्द्रियाणामभावेपि इति मृगेन्द्रतन्त्रे वितत्य विवेचितम्।[२] यद् यत् कारणं भवति तत् तत् सकर्तृकम् इत्येव व्याप्तिर्भवति, न तु यो यः कर्ता स स सकरणक इत्येवं रूपाव्याप्तिर्भवति। अत एव अक्षरहितस्यापि अयस्कान्तमणेः लोहाकर्षणक्रियायां कर्तृत्वं न विहन्यते। अत एवानुमानमिदं प्रत्याख्यातं भवति– **"पतिकर्तृका जगदुत्पत्त्या-दिक्रिया यत्किञ्चित्करणावश्यसापेक्षा क्रियात्वात् छिदादिक्रियावदिति।**

तार्किकैः जन्यमात्रम्प्रति कालस्य कर्तृत्वमङ्गीक्रियते। न ह्यमूर्ते काले किमपि शरीरम् इन्द्रियं वा भवति तथा शैवागमे विनैव शरीरेन्द्रियं जगदुत्पत्त्यादि-क्रियायाम् इच्छाशक्तिसाचिव्येन पत्युः कर्तृत्वं न दुष्यति। यदुक्तम्–

यथा कालो ह्यमूर्तोऽपि दृश्यते फलसाधकः।
एवं शिवो ह्यमूर्तोपि कुरुते कार्यमिच्छया।।[३]

पञ्चमन्त्रतनुः पतिः

ईशः, तत्पुरुषः, अघोरः, वामः, अजश्चेति पञ्चमन्त्रात्मिका तनुः पत्युर्मस्तकादिरूपेणोपकल्प्यते, ययाऽसौ पञ्चकृत्यानि सम्पादयति। यदुक्तम्–

तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः।
ईशतत्पुरुषाघोरवामाजैर्मस्तकादिमान् ।।[४]
सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः।।[५]

पञ्चकृत्यपरायणता

शिवस्य पञ्चकृत्यानि प्रथन्ते–सृष्टिः, स्थितिः, ध्वंसः, तिरोधानात्मको निग्रहः, स्वरूपप्रथनात्मकः अनुग्रहश्चेति। एभिः कृत्यैः पतिरसौ जगतः सृष्टिं, स्थितिं ध्वंसञ्च लीलया सम्पादयन् निगृहीतान् अणून् करुणयानुगृह्णाति। यदुक्तम्–

१. बृहदारण्यक ३.८.८
२. विद्यापादः २.१.३
३. किरणसूत्रम्, उद्धृत-सा.सु. वर्ष ३९, पृ.३४
४. उद्धृत् सार.सुषमा ३९.१-४, पृ.३४
५. पूर्णताप्रत्य., २.३८२

जगज्जन्मस्थितिध्वंसतिरोभावविमुक्तयः।
कृत्यं सकारकफलं ज्ञेयमस्यैतदेव हि।।[१]

सृष्टिः स्थितिस्तथा ध्वंसस्तिरोभावोऽप्यनुग्रहः।
इति पञ्चसु कर्तृत्वमावहञ्शिव उच्यते।।[२]

शिवो जगत्कारणम्

प्रमाणपटवस्तार्किकाः कार्यं घटम्प्रति कुलालं निमित्तकारणम्। दण्डादिकं सहकारिकारणम्, कपालद्वयम् समवायिकारणम्, कपालद्वयसंयोगन्तु असमवायिकारणमवधारयन्ति। तद्वत् तान्त्रिकाः जगत्सृष्ट्यादिकं कार्यम् प्रति शिवं निमित्तकारणम्, तत्स्वभावभूताः शक्तीः सहकारिकारणम्, बिन्दुमुपादानकारणम् आमनन्ति। वितत्य चैतत् प्रपञ्चितं पौष्करसंहितायाम्, पराख्यसूत्रे च।[३]

जगत्सापेक्षाः तिस्रः संज्ञाः शिवस्य

जीवस्य तिस्रोऽवस्थाः तस्य त्रीणि नामानि सम्पादयन्ति। तथाहि शरीरसम्बन्धादस्य सकलसंज्ञा, प्रलये निष्कलसंज्ञा, मुक्त्यवस्थायान्तु परसंज्ञा भवति। तद्वत् शिवस्यापि तिस्रः संज्ञा भवन्त्यवस्थाभेदात्। तथाहि जगदुत्पत्त्यादिनिरपेक्षस्य तस्य निष्कलस्य सत्यामपि जगत्सृष्ट्यादिकारण-योग्यतायाम् असत्यान्तु फलोपधायकतायाम् "शक्तः" इति संज्ञा प्रथते। यदसौ जगत्सृष्ट्याद्यर्थमुन्मुखः सन् सकलनिष्कलावस्थः सदाशिवः स 'उद्युक्तः" इति संज्ञां लभते। यदयं जगत्सृष्ट्यादौ प्रवर्तमानः स्थूलावस्थामापन्न ईश्वरः, तस्य "प्रवृत्तः" इति संज्ञा आगमिक-जगति प्रथते। यदुक्तम्-

शक्तोद्युक्तप्रवृत्तश्च कर्ता त्रिविध उच्यते।
शक्तेः प्रवृत्तिभेदेन भेदस्तस्योपचारतः।।[४]

पशुस्वरूपम्

विभिन्नेषु समेषु दर्शनेषु जीवस्वरूपावधारणं भिद्यते। यथा अनित्य-ज्ञानाधिकरणं जीव इति तार्किकाः। पदार्थः सप्तविधो भवति। तत्र प्रथमः

---

१. उद्धृत् सा.सु. ३९.१-४ पृ.३४
२. पूर्णता प्रत्य.१.४९
३. सा.सु. वर्ष:३९, पृ.३३
४. मृगेन्द्रसूत्रम्, उद्धृतं-सा.सु. वर्ष ३९, पृ.३५

पदार्थो "द्रव्यम्" इत्यभिधीयते। नवविधे तस्मिन् अष्टमः प्रभेदः "आत्मा" इत्युच्यते। तत्र नित्यज्ञानवान् ईश्वर इत्युच्यते। यत्र तु अनित्यं ज्ञानं समवायेन तिष्ठति सोऽयं जीव इत्युच्यते। स च प्रतिशरीरं भिद्यते।[१] स च विभुः। तस्य च सर्वदेवमयः कायः।[२] चैतन्यविशिष्टो देहो जीव इति चार्वाका अङ्गीकुर्वते। बौद्धास्तु प्रतिक्षणं भिद्यमानं नश्वरमात्मानं जीवं ब्रुवते। शरीरपरिमाणमात्मानं जीवमाहुर्जैना:। जीवस्तु वस्तुतः एकः, प्रतिप्राणिशरीरं तु तस्य भेदेन व्यपदेशो भवतीति औपनिषदाः। अणुपरिमाणा जीवा इति विशिष्टाद्वैतिनः। पुष्कर-पलाशवन्निर्लेपः शुद्धो बुद्धश्च पुरुषसंज्ञको जीवः प्रतिशरीरं भिद्यते इति सांख्याः।

शैवागमे तु जीवस्य पशुसंज्ञा अभिमता। तस्य च स्वरूपमित्थं वर्तते।

देहान्योऽनश्वरो व्यापी विभिन्नः समलोऽजडः।
स्वकर्मफलभुक् कर्ता किञ्चिज्ज्ञः सेश्वरः पशुः।।[३]

अत्र देहस्य जीवरूपत्वमिति चार्वाकमतखण्डनाय "देहान्य" इति पदमुपादीयते। क्षणभङ्गवादनिराकरणाय अनश्वर इति पदमाद्रियते अणुपरिमाण-वादं मध्यमपरिमाणवादञ्चापाकर्तुं "व्यापी"ति पदमुपात्तम्। एकजीववादमपाकर्तुं "विभिन्नः" इति पदमुपादीयते। अपूर्णज्ञानम् अज्ञानमित्युच्यते। मलसंज्ञकमज्ञानं किल ज्ञानमावृणोति। तद्वान् जीव इति बोधयितुं "समलः" इति पदं दीयते। जडः स्वं परं वा नवेति, ज्ञानाभावात् नासौ किञ्चित्कर्तुं प्रभवति। तद्विपरीतः संकुचितज्ञानक्रियाशक्तिमान् पशुरिति बोधयितुम् "अजडः" इति पदमुपादीयते। कृहानिरकृताभ्यामगश्चेति दोषापनोदनाय कृतस्य धर्मस्य अधर्मस्य वा फलभोक्तृता जीवे भवतीति बोधयितुं "स्वकर्मफलयुग्" इति पदमादृतम्। किञ्चिदेवासो जानाति कञ्चुकावृतो न तु सन्नमिति बोधनाय "किञ्चिज्ज्ञः" इति पदमुपात्तम्। "प्रेरयितारं च लब्ध्वेति"[४] "अन्तर्याम्यमृतः"[५] इति चैवमादिश्रुत्या परमेश्वरस्य प्रेरकत्वं जीवस्य प्रेर्यत्वं च प्रतीयते। तदवबोधनाय "सेश्वरः" इति पदमुपात्तम्। तस्यैतस्य जीवस्य विविधकर्मकर्तृत्वं संघटते।

---

१. तर्कसंग्रहः—द्रव्यनिरूपणम्
२. तन्त्रालोक: १५.६०४
३. पराख्यसंहिता-सा.सु. वर्ष ३९, पृ.३५
४. दशोपनिषद्
५. दशोपनिषद्

तस्यैतस्य जीवस्य दृक्क्रियाशक्तिमत्त्वं व्यवहारे दृश्यते आगमेषु प्रतिपाद्यते च।[१] जीवे पूर्णशिवतायाः विकाससम्भावना प्रतिपाद्यते। परं च शिवः पाशबद्धो नास्ति जीवस्तु पाशबद्धः।[२]

पशुस्त्रिविधः – आगमेषु त्रिविधः पशुः प्रतिपाद्यते। विज्ञानाकलः, प्रलयाकलः, सकलश्चेति। मलयुक्तो विज्ञानाकलो भवति। तस्य द्वौ प्रभेदौ भवतः। समाप्तकलुषः असमाप्तकलुषश्चेति। मलकर्मयुक्तः प्रलयाकल इत्युच्यते। अस्यापि द्वौ प्रभेदौ भवतः। पक्व पाशद्वयः, तद्विलक्षणश्चेति। मलकर्ममायायुक्तस्तु सकल इत्युच्यते। अस्यापि द्वौ प्रभेदौ भवतः। पक्वकलषः अपवक्वकलुषश्चेति। कर्मणां फलभोक्तृता पशुषु, फलदातृता तु परमेश्वरे तिष्ठति।

पशोः तिस्रः अवस्था भवन्ति– केवलावस्था, सकलावस्था, अमलावस्था चेति।[३] अत्यन्तमलिनस्य केवलावस्था, कर्मानुरक्तस्य बद्धस्य सकलावस्था। दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम्। यस्मादतः समाख्याता दीक्षेतीयं विचक्षणैः। इत्युक्तलक्षणया तदीक्षया मुक्तफलादिबन्धस्य तु अमलावस्था भवति।[४]

पाशः– पाशेन पाशितः पशुर्भवति। पाशः चुर्विधः पञ्चविधो वा भवति। मलः, तिरोधानशक्तिः, महामाया, माया, कर्मचेति।[५]

मलः– मलिनीकरोति दृक्क्रियात्मकं तेज आच्छादयति इति मलः। सोऽयम् अनादिः अज्ञानापरपर्यायः पशुतवमाद्यत्ते। एतस्य नामान्तराण्यपि सन्ति – तमः लोलिका अज्ञता, पशुः, अविद्येत्यादि।[६] सोऽयं मलः सप्तविधानां कार्याणां कारणभूत अस्ति। यदुक्तम्–

मोहोमदश्च रागश्च विषादः शोष एव च।
वैचित्त्यश्चैव हर्षाख्यः सप्तैते सहजामलाः।।[७]

---

१. मृगेन्द्रागमः विद्यापादः २.५.७ तथा नरेश्वरविवेकः-शिवात्मकाः प्रमातारः
२. तन्त्रसद्भावः
३. मकाराद् भव इत्युक्तः ककारात् कलुषं भवेत्। ततः सन्त्रायते तस्माद् भक्त इत्युच्यते बुधैः। भक्तयाहं विवेशीकृतः। सूक्ष्मागमः ९.३५, ९.४६
४. स्वायम्भुवागमः
५. क. तत्त्वप्रकाशः, ख. शतरत्नसंग्रहः, ग. मृगेन्द्रागमः, घ. पूर्णताप्र. २.४७९
६. पूर्णताप्रत्य० २।४४६, सुप्रभेदागमः
७. तत्त्वत्रयनिर्णयः, श्लो. १८

तिरोधानशक्तिः– इयं मुख्यतया पाशो भवितुं नार्हति। परं प्रसरन्तीनां मलशक्तीनां यदधीनता भवति सैषा प्रभोः तिरोधानशक्तिः गौणतया मलशब्देन व्यपदिश्यते।

महामाया– श्रद्धावान् उपादानकारणतया स्वीक्रियमाणा "महामाया" अपि पाशरूपेण स्वीक्रियते। विद्याङ्गतया मायाङ्गतया वास्य स्वीकृतिर्विससति। महामायावतां परामृतरसापाथस्तु न भवति। नात्र भेदमयमायामलावस्थितिभर्वति, अज्ञानात्मामलस्त्वत्रापि तिष्ठति।[1] अस्या नामान्तराणि भवन्ति - शुद्धविद्या, वागीश्वरी, मातृका, कुण्डलिनीति। शिवस्य परिग्रहशक्तिरियं समवायिशक्तेरधस्तात् तिष्ठति।

माया– जगतो बीजं माया भवति। इयं सूक्ष्मभूता अनादिः अशिवात्मिका च भवति। द्विविधा व्युत्पत्तिरत्र प्रसरति। यस्यां सर्वं जगत् प्रलये भाति सा मायेत्येका व्युत्पत्तिः। यतो मयति प्रसरति सर्वं जगत् असौ मायेति अपराव्युतपत्तिः। अस्या सक्षणं सूत्रेणेत्थं संकलितं भाति–

मायातत्त्वं जगद्बीजभविनाश्यशिवात्मकम्।
विवेकममलं सूक्ष्ममनाद्यण्ययमीश्वरम्।। इति।[2]

कर्म– धर्मात्मकम् अधर्मात्मकं वा कर्म आतिप्रदम्, आयुः प्रदम्, भोगप्रदं चेति त्रिविाम्भवति। दृष्टमदृष्टं चेति द्विविधं कर्म भवति।[3] तदेवं पञ्चविधः पाशः आगमेषु विस्तरशः प्रतिपाद्यते।

मुक्तौ यद्यपि पत्युः शिवस्यैव ज्ञानं कारणं भवति तथापि तदुपकारक पशुपाशज्ञानयोरुपयोगितापि नापलप्यते।

तदेवं त्रिविधेषु पदार्थेषु पाशबद्धस्य पशोः, भक्तिपुरःसरम् पतिविषयकं यज्ज्ञानमुदेति तदेव तस्य भवबन्धनान्मुक्तौ हेतुतां व्रजति।

वीरशैवागमिनोदुःखसंयोगस्य अनादिमलप्रसूतस्य वियोगहेतुं शिवयोगं जीवकल्याणहेतुमाहुः। वीरशैवपरिभाषा वातुलशुद्धाख्यतन्त्रे इत्थं विद्यते–

विशिष्ट ईर्यते यस्माद वीर इत्यभिधीयते।
शिवेन सह सम्बन्धं शैवमित्यादृतं बुधैः।।

---

१. पूर्णता प्रत्य. १.१५९-१६२ -

२. उद्धृत—सारस्वती सुषमा, वर्ष ३९, पृ.४१

३. विश्वसारोत्तरसूत्रम्, योगसूत्रम्—सतिमूले तद्विपाकोजात्यायुर्भोगाः। पौष्करागमः, मृगेन्द्रसूत्रम्।

उभयोः सम्पुटीभावाद् वीरशैवमिति स्मृतम्।
शिवायार्पितजीवत्वाद् वीरतन्त्रसमुद्भवात्।।
वीरशब्दसमायोगाद् वीरशैवमिति स्मृतम्।।[1]

एवं विधानाम् आप्तवाक्यानाम् अन्योन्यसामञ्जस्य विधाय श्रीचन्द्रशेखर शिवाचार्येण वीरशैवस्वरूपमित्थं प्रतिपादितम्– "दीक्षायां गुरुणा प्रदत्तमिष्टलिङ्गं स्ववक्षःस्थले सदा सावधानं धारयन्, प्रसङ्गो सति परशिवार्थं स्वप्राणत्यागरूप वीरव्रतं च परिपालयन् यः शिवजीवैक्यबोधिकायां विधायां रमते स वीर इति। तादृशवीरविशेषणविशिष्टः शैव इव वीरशैव इति।[2]

वीरशैवः [3]दीक्षाप्रत्यनन्तरम् उत्तरकालं लिङ्गपूजा ध्यानादिनैव यापयति। काकादिवातुलान्तेषु अष्टाविंशतिसंख्याकेषु शैवागमेषु उत्तरे भागे वीरशैवसिद्धान्ताः प्रतिपाद्यन्ते।

सिद्धान्ताख्ये महातत्त्वे कामिकाद्ये शिवोदिते।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्।।[4]

देव्या पृष्टः शिवः आगमानां सारस्वरूपं सूक्ष्मागमं शिवज्ञानहेतवे समुपदिदेश। यदुक्तम्–

तस्मात् सर्वार्थसंयुक्तम् परमार्थावबोधकम्।
सूक्ष्मतन्त्रमहं वक्ष्ये शिवज्ञानैकसाधनम्।।[5]

अस्य सूक्ष्मतन्त्रस्य मुख्यं प्रतिपाद्यं भगवान् शिव एवास्ते। शिवः सच्चिदानन्तलक्षणः परंज्योतिः स्थाणुः षडध्वविधायी योगिनामुपकाराय सर्वतत्वानां सृष्ट्यर्थं स्वेच्छया सम्प्रवर्तते।

षडध्वकर्ता देवेशस् सर्वतत्त्वोपरि स्थितः।
सृष्ट्यर्थं सर्वतत्त्वानां जगदुत्पत्तिकारणम्।।

---

१. १०.२७-२९
२. पृ. १४
३. एवं समरसाद् भावादङ्गाषट्स्थलयोगतः। यः पूजयति मां देवि! वीरशैवः स उच्यते। सूक्ष्मागम, उत्तरभागः ६.५०, वीतरागादिदोषत्वादात्मतत्त्वविचारणात्। विकल्पाकल्पशून्यत्वाद् वीरशैवामितिस्मृतम्।। सूक्ष्मागमः ०.२९
४. सिद्धान्त शिखामणिः ५.१४
५. सूक्ष्मागमः, उत्तरभाग, श्लो. १३

योगिनामुपकाराय स्वेच्छयाचिन्तयच्छिवः।।[१]

भगवतः शिवस्य शक्तिर्यद्यपि एका चिन्मयी राजते तथापि सा आत्मानं पञ्चधा विभज्य परा, आदिः, इच्छा, ज्ञानं क्रिया चेति समाख्यां लभते। परशिवस्य या चिच्छक्तिः तस्याः योजनेन षट् शक्तिव्यक्तयो भवन्ति। आसां शक्तीनां परिणामभूताः षट्कलाः प्रादुभवन्ति। तद्यथा चिच्छक्तेः शान्त्यतीतोत्तरकला, पराशक्तेः शान्त्यतीता कला, आदिशक्तेः शान्तिकला, इच्छाशक्तेः विद्याकला, ज्ञानशक्तेः प्रतिष्ठाकला, क्रियाशक्तेस्तु निवृत्तिकला लब्धात्मभावा भवन्ति। तदेवं शिव एव तेन तेन रूपेण प्रथते।[२]

तेनैतेन अनन्तशक्तिकेन अव्याहतैश्वर्येण शिवेन सह वीरशैविनां भक्तजीवानां साधकानां यदैक्यं तदेव शिवयोगे इत्यभिधीयते। तत्र ये शिवगमाः कामिकादि-सुप्रभेदान्ताः, ये च रुद्रागमाः विजयादि-वातुलान्ताः तेषु अष्टाविंशतिसंख्याकेषु आगमेषु सम्प्रोक्तः शिवयोग एव साधकानां साध्यभूतो परमोपादेयो नैजः स्वभावः।

सोऽयं स्वभावः, अनुपायेन, शाम्भवशाक्ताणवोपायेन वा प्राकट्यमुपगतः परमकल्याणाय कल्पते। साधकस्य काचन समावेशदशा अनुपायादिना सम्पद्यते। समावेशो नाम चिदानन्तलक्षणस्य स्वात्मनो मुख्यता परशिवाख्या। एतस्याः समावेश दशायाः समुदयः साधकेकामपि विलक्षणाम् अनपायिनीं तुष्टिं वितनोति। तामेनां सन्तुष्टिमश्नुवानः साधकः ''ज्ञानी''त्यभिधीयते। समुदितायाः समावेशदशाया या निरन्तरता, चिदात्मप्राधान्यस्य उन्मज्जनात्मा अभ्यासो वा, तत्समुत्थिता ऐश्वर्यावाप्तिः ''शिवयोग'' इत्यभिधीयते। एतादृशमनपायि ऐश्वर्यमश्नुवानो ''योगी''त्युच्यते जीवन्मुक्तो निराभारी[३] वीरशैवः। युदक्तम्–

चिदात्मनो हि मुख्यत्वं समावेशस्य लक्षणम्।
अज्ञानात्ममलद्वेषि ज्ञानमप्येतदुच्यते।।
समावेशदशालाभतुष्टो ज्ञानीति कथ्यते।
एतदभ्याससम्प्राप्तैश्वर्यो योगी मतो हि नः।। इति।[४]

---

१. सूक्ष्मागमः, उ.भा., श्लो. १९
२. अनुभवसूत्रम् ३.१३-२७
३. जन्तोः पुण्यं पापमितिकर्म द्विविमुच्यते। निवृत्तकर्मभारत्वान्निराभारइतिस्मृतः।।
शिवभक्तिः शिवज्ञानं शिवमुद्रा शिवव्रतम्। शिवलिङ्गार्चनश्रद्धा वृत्त्यन्तर निरोधनम्।।
एतेधर्मा यत्र सन्ति समाराभारवर्जितः।। सूक्ष्मागम, उत्तरभागः, क्रियापादः ७.६४, ७९
४. पूर्णता प्रत्य. २.५२७-५३८

आगमानाम् अभिधेयं ज्ञानक्रिया योगचर्यात्मकं भवति। एषां प्रयोजनं स्वात्मतत्त्वज्ञप्तिः, तत्प्रयोजनन्तु सच्चिदानन्तस्वभावस्य मुक्तिरभ्युदयात्मिका मुक्तिस्तु निःश्रेयसात्मिका वा। यदुकतम्–

आश्रयो द्वन्द्वमित्युक्तं द्वन्द्वत्यागात् परोदयः।
जीवन्मुक्तस्तदा योगी देहत्यागाद् विमुच्यते।।[3]

सोऽयमागमः सर्वः परमेश्वरमाप्तं विज्ञापयति। आगमस्य कर्तुः नित्य-निर्मलनिरतिशयसर्वार्थज्ञानक्रियाशक्तेः सर्वदा सर्वानुग्रहप्रवृत्तस्य परमेश्वरत्वादेव सर्वाधिष्ठातुः सर्वविषयमाप्तत्वं विलसति। सोऽम्परमेश्वरः सर्वकर्ता सर्वज्ञाता, अनादिकृत्वा मलापेतः सकृद्विभातः पशोः पाशजालमपोहति। यदुक्तम्–

अनादिकलमुक्तत्वात् सर्वज्ञोऽसौ ततः शिवः।। इति।[1]

अथानादिमलापेतः सर्वकृत् सर्वविच्छिवः।
पूर्वव्यत्यासितस्याणोः पाशजालमपोहति।। इति च।[2]

अयमाशयः अणौ यद्यपि सर्वदा दृक् क्रियारूपं चैतन्यं विद्यमानम्भवति तथापि अनादिमलेन, ईश्वरनिरोधशक्त्या कर्मभिश्च सद्भिः योऽयमणुः स किल अशिवत्वं प्रतिपद्यते। तदनन्तरमस्य बन्धान्तरयोगो भवति। शिवानुग्रहे जाते तु तदपोहने शिवत्वमायाति।

तदेवमणोः शिववैसादृश्ये त एवानादयो हेतवो भवन्ति। शिवस्तु अप्रतिबद्धनिरतिशय सर्वार्थ दृक्क्रियाशक्तिरनुग्रहवपुरणूनां योगयतामपेक्ष्य तदनुग्रहाय प्रवृत्तः पाशव्रातमपोहतीति नितरामसावेव विजयते क्रीडाशीलः स्वात्ममहेश्वरी देवः। यदुकतम्–

चैतन्यं दृक्-क्रियारूपं तदस्त्यात्मनि सर्वदा।
सर्वतश्च यतो मुक्तौ श्रूयते सर्वतोमुखम्।।
सदप्यभासमानत्वात् तन्निरूद्धं प्रतीयते।
वश्योऽनावृतवीर्यस्य सोऽत एवादिमोक्षणात्।।

शिवयोगी भगवानुत्पलदेव अप्याह स्वात्मैवायं वसति सकलप्राणि-नामीश्वरोऽन्तः।। इति।[4]

---

१. देवीकालोत्तरागमः ४४
२. श्रीकिरणागमः
३. मृगेन्द्रागमः, विद्यापादः २.१.१
४. ईश्वरीसिद्धिः ५६

आगमेषु पञ्चाक्षर मन्त्रस्य शिवस्वरूपता प्रतिपाद्यते मन्त्रजपाभ्यासमयेन योगेन सधकस्य शिवरूपता प्रकाशते इत्येतदपि स्फुटतया प्रतिपाद्यते। तद्यथा– पृथिव्यादीनि पञ्चभूतानि, शब्दादीनि पञ्चतन्मात्राणि, चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि, हस्तादीनि कर्मेन्द्रियाणि, ईशानादीनि पञ्चब्रह्मात्मकानि, सृष्ट्यादीनि पञ्चकृत्यानि, अन्यानि वा पञ्चपञ्चाक्षरमहामन्त्रवर्णेभ्यो महार्थेभ्यो लब्धात्मभावानि भवन्ति। यदुक्तम्–

एवं पञ्चात्मकं सर्वं सुसूक्ष्मं कथितं शिवे।
ध्येयो मुमुक्षुभिर्नित्यमनेन मनुना शिवः।।
जीवन्मुक्त इति ज्ञेयो मदनुग्रहभाग् भवेत्।। इति[१]
नमःशब्द उमा साक्षाच्छिवशब्दः शिवः स्वयम्।
अयशब्दस्तयोर्योगः सोमतत्त्वामुपास्महे।। इति च[२]

मलम्, माया, कर्मचेति त्रिविधबन्धमुपेतस्य पशोः पाशनिकृन्तने "कार्यंचेदुपलभ्येत किं कारण परीक्षया" इति।[३] नयेनयद्विमर्श आगमः, "शिवआचार्यरूपेण लोकानुग्रहाकरः" इतिरीत्यि[४] अङ्गीकृताचार्यवपुः, षट्त्रिंशत्तत्त्वगर्भः महामहिमः श्रीशिवो[५]भगवान् शिवात्मविद्यारमणशालिनः साधमान्[६] शिवात्मनोः सम्यग्योगरूपो यः संयोगास्तेनसंयोज्य अनुगृह्णाति। तदा योगिनः किमपि चिह्नं परिलक्षितं भवति। यदुक्तम्–

तत्रैतत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चल । इति।[७]

आगमोत्थं शिवज्ञानम्[८], तन्मयः आचा[९] ।२८। साधकं योगतत्परं विदधाति योनासौ निर्विकल्पकं स्वपरपकाशकं संविद्रूपं स्वात्ममहेश्वरं समाविशति।[१०]

---

१. सूक्ष्मागम, उ.भा., क्रियापाद ४.६१-६२
२. अनुभवसूत्रम् ९०
३. श्रीतन्त्रालोक १३.१०
४. श्रीतन्त्रालोक १३.२५३
५. अनुभवसूत्रम् १.३
६. उद्धृत — अनुभसूत्रम प्रस्तावना iv
७. श्रीतन्त्रालोक १३.७३
८. देवीकालोत्तरागम ४
९. देवीकालोत्तरागम ५
१०. देवीकालोत्तरागम - निरञ्जनसिद्धचितकृति - श्लो.५

संविदद्वययोगी ब्रह्मादिरूपेणात्मानं पश्यन् प्रज्ञया चित्तस्थैर्यं विधाय परतत्त्वानुरागी अक्षयं मोक्षमवाप्य घरादि सदाशिवान्तं तत्त्वव्रातं चितिशक्त्यात्मकं सम्पश्यन् विशुद्धस्फुरणेन क्रमात् मन्त्र-नय-रूप-राजयोगमुत्तरोत्तरमाविशन् निरालम्ब-संविदनु सन्धानपरश्चकास्ति।[१]

यदा त्वसौ वीरशैवौ योगी देह-देहिरूपं द्वन्द्वमुत्तरति तदस्य अनुर्भवरूपपरतत्त्वमुदेति येना सौ ''विमुक्तश्च विमुच्यते''[२] इति श्रुत्युक्त नयेन जीवन्नेव मुक्तः सन् देहपाते विदेहमुक्तो ब्रह्मभूतोविजृम्भते। यदुक्तम्-

आश्रयो द्वन्द्वमित्युक्तं द्वन्द्वत्यागात् परोदयः।
जीवन्मुक्तस्तदा योगी देहत्यागाद् विमुच्यते।।[३]

तदेवं निराभारः परशिवयोगी कर्मनियममपैति, ज्ञानयोगेन शिव सामीप्यमवाप्य विश्वमयं तदुत्तीर्णं च शिवमात्माभेदेन सम्पश्यन् श्रीगुरुशक्त्या मायाशक्ंित विजित्य[४] स्वात्मनःश्रीशिवस्य, श्रीगुरोश्चाभेदं परामृशन् आसादितपरमेश्वरदास्यः[५] परानुग्रहविग्रहः सन् सद्गुरुं संस्तौति, स्तूयते च। ब्रह्मादिदेवर्षिसुयोगिवर्य्यैरन्यैश्च भूतैरनिशं स्तुतोऽपि।

योऽस्त्यस्तुतोद्यापि महानन्तरः स्तुत्यैकरूपं ननु तं स्तुवेऽहम्।[६]

OOO

---

१. देवीकालोत्तागमः श्लो. ६,७,१०,१३,१४,१५,२४,२५,३०
२. कठोपनिषद् २.२.१
३. देवीकालोत्तरागमः श्लोक - ४४,४९,६०
४. देवीकालोत्तरागमः ८१
५. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा १.६ एवं २.९
६. संवित्सवातन्त्र्यम् श्लो. ४८४

वीरशैव आगम के परिप्रेक्ष्य में पारमेश्वर आगम में भक्ति का स्वरूप

●

डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय
प्राध्यापक
धर्मागमविभाग, का.हि.विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय संस्कृति के चिन्तन और साहित्य का व्यापक और सार्वकालिक स्वरूप भक्ति में ही सुनियोजित है। उसका प्रभाव हमारे जातीय जीवन के सभी वाङ्मय और आन्तरिक पक्षों पर प्राचीन काल से उत्कीर्ण है। भक्ति भारतीय संस्कृति की आधारशिला है। भगवान् के तीन रूप निराकार, नीराकार और नराकार में सगुण भक्ति का सम्बन्ध नराकार से रहा है और निर्गुण भक्ति का निराकार से। सृष्टि में व्याप्त व्यक्त-अव्यक्त चैतन्य का बोध भक्तों ने उन्मुक्त भाव से किया। भक्ति तत्त्व का मूलाधार धर्म-बुद्धिपूर्वक नैतिक अवधारणाओं के साथ भगवत् गुणों का आराधन रहा है।

भक्ति शब्द "भज् सेवायाम्" धातु से क्तिन् प्रत्यय कर सिद्ध होता "सेवा करना" है। वीरशैव तन्त्र में भक्ति को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि-

"साङ्गान्यूना च या सेवा सा भक्तिरिति कथ्यते।"

पारमेश्वर आगम में भक्ति को निरूपित करते हुए कहा गया है- **"सहानुभावा या सेवा सा भक्तिरिति कथ्यते"**[१] अर्थात् भावना से भरी हुई सेवा ही भक्ति कहलाती है। यह भक्ति मन, वाणी और शरीर के भेद से तीन तरह की होती है। शिवधर्म के पालन में रत मनुष्य श्रेष्ठ भक्ति प्राप्त कर लेता है और इसी श्रेष्ठ भक्ति का अवलम्बन कर वह शिव के प्रसाद को प्राप्त करता है। देवता हो या मानव, पशु हो या पक्षी, कीट हो अथवा कृमि मेरे

---

१. पारमेश्वरागम: १२.२९ए.

प्रसाद (शिव-अनुग्रह) से मुक्ति को प्राप्त करते हैं। गर्भस्थ हो या सद्यः प्रसूत शिशु हो, बालक हो या तरुण हो, वृद्ध हो या मरणोपरान्मुख हो, स्वर्ग में हो अथवा नरक में, पतित हो या पवित्र, पण्डित हो अथवा मूर्ख – ये सभी शिव के प्रसाद को पा लेने पर भवबन्धन से मुक्त हो जाते हैं।[१] इसके अतिरिक्त भी जो मनुष्य अपनी इच्छा से शरीर को धारण किये हुए हैं, उच्च भावना से परिपूर्ण हैं, पूर्व जन्म के सुसंस्कारों से सम्पन्न हैं, ऐसे व्यक्ति यदि स्त्री आदि विषयों में अनुरक्त हों या विरक्त,वे उसी प्रकार पापों से लिप्त नहीं होते, जैसे कमलपत्र जल में रहते हुए भी जल से लिप्त नहीं होता। ऐसे विशुद्ध शिवयोगियों को स्व-शिवरूपता का ज्ञान हो जाता है। इसके विपरीत शिव प्रसाद से वंचित मानवों को मात्र दुःख ही भोगना पड़ता है।[२] इस प्रकार शिव का अनुग्रह ही भकित का मूल धारण है।

सर्वजन सुलभ मुक्तिविधायिनी भक्ति वर्णन सिद्धान्त शिखामणि में भी लगभग इसी प्रकार का है। तदनुसार–

प्रसादादेव सा भक्तिः प्रसादो भक्ति सम्भवः।
यथैवाङ्कुरतोबीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः।।
प्रसादपूर्विका येयं भक्तिर्मुक्तिविधायिनी।
नैव सा शक्यते प्राप्तं नरैकेन जन्मना।।
अनेकजन्मशुद्धानां श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम्।
विरक्तानां प्रबुद्धानां प्रसीदति महेश्वरः।।
प्रसन्ने सति मुक्तोऽभून्मुक्तः शिवसमो भवेत्।।[३]

---

१. सा पुनर्भिद्यते त्रेधा मनोवाक्कायभेदतः।
परां भक्तिं समभेत्य शिवधर्मरतो नरः।
परया च तथा भक्त्या प्रसादं लभते नरः।।
देवो वा मानवो वाऽपि पशुर्वा विहंगोऽपि वा।
कीटोवाऽपि क्रिमिर्वाऽपि मुच्यते मत्प्रसादतः।।
गर्भस्थो जाममानो वा बालो वा तरुणोऽपिवा।
वृद्धो वा म्रियमाणो वा स्वर्गस्थो वाऽपि नारकी।।
पतितोऽपिततो वाऽपि पण्डितो मूढ एव च।
प्रसन्ने मयि देवेशि मुच्यते भवबन्धनात्।। (पारमेश्वरागम १२.२९बी.-३३)

२. पारमेश्वरागम १२.३४-३६

३. सिद्धान्तशिखामणि ९.११-१३

वीरशैव सिद्धान्त में भक्ति को साक्षात् शिवसायुज्यदायिनी कहा गया है। अनुभवसूत्रम् में भक्ति के षट्स्थलों का वर्णन प्राप्त होता है–

षड्विधाकारतो भिन्ना भक्तिः साक्षाच्छिवात्मिका।
षण्णामैक्यादिभक्तान्तस्थलानां वर्तते पदे।।
भक्तिः समरसाकारा प्रथमा परिगीयते।
आनन्दाकरतो भाति द्वितीया भक्तिरुत्तमा।।
तृतीयाऽनुभवाकारा भक्तिर्भवविनाशिनी।
चतुर्थी परमाभक्तिरवधानात्मिका मता।।
पञ्चमी नैष्ठिकी भक्तिः षष्ठी सद्भक्तिरीरिता।।[१]

षटस्थलनामनिर्देश पारमेश्वर आगम में भी प्राप्त है। भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण और शिवैक्य ये छः स्थल है।[२]

१. भक्तस्थललक्षण

शैवी भक्तिः समुत्पन्ना यस्यासौ भक्त उच्यते।
तस्यानुष्ठेयधर्माणां मुक्तिर्भक्तस्थलं मतम्।।[३]

गुरु में, जंगम में तथा इष्टलिंग में मेरा ही रूप तारतमभाव से विद्यमान है। मेरे इस त्रिविध रूप की जो पूजा करता है, वही भक्तस्थल के नाम से प्रसिद्ध होता है। यह भक्तस्थल पृवीतत्त्व का प्रतिनिधि है। यह मेरा अन्यतम रूप है। इसका अधिपति देवता मैं ही हूँ। मेरे साक्षात् स्वरूप धारण करने वाले जंगम की जो पूजा करता है, वह मेरी ही पूजा करता है, निःसन्देह वह मैं ही हूँ। अतएव जो व्यक्ति इन जंगम महात्माओं की अपनी शक्ति के अनुसार भक्ति करता है, उसे भक्तस्थल कहा जाता है।[४] सिद्धान्तशिखामणि में भक्तस्थल भक्त के कर्त्तव्यों का निर्धारण करते हुए कहा गया है कि–

---

१. अनुभवसूत्रम् ४.२३, २५-२७

२. भक्तो माहेश्वरश्चैव प्रसादी प्राणलिङ्गकः।
शरणः शिवलिङ्गैक्यः स्थलषट्कं मम् प्रियम्।। पारमेश्वरागम् ६.८

३. सिद्धान्तशिखामणि ५.२६

४. गुरौ च जङ्गमे लिङ्गे तारतम्यविशेषतः। पूजयेत् त्रिविधं रूपं तद्भक्तस्थलमुच्यते।। तदेव पृथिवीतत्त्वं तनुरन्यतमा मम। तस्याधि देवता चाहं सोऽहं देवि न संशयः।। जङ्गमं पूजयेद्यस्तु साक्षान्मद्रूपमीश्वरम्। स मां पूजितवानेव सोऽहं देवि न संशयः ।। तस्माद् यो भक्तिमान् शक्तो जङ्गमेषु महात्मसु। तद्धि भक्तस्थलं विद्धि मम चातिप्रियं शिवे।।
(पारमेश्वरागम ६.१३-१६)

दीक्षा लिङ्गधृतिश्चैव विभूतेरपि धारणम्।
रुद्राक्षधारणं पश्चात् पञ्चाक्षरजपस्तथा।।
भक्तमार्गक्रिया चैव गुरोर्लिङ्गस्य चार्चनम्।।
जङ्गमस्य तथा ह्येषां प्रसादस्वीकृतिस्तथा।
अन्नदानत्रयं प्रोक्तमुपाधिनिरुपाधिकम्।।
सहजं चेति निर्दिष्टं समस्तागमपारगैः।
एतानि शिवभक्तस्य कर्तव्यानि प्रयत्नतः।।[१]

इसके अतिरिक्त भी सिद्धान्तशिखामणि में अनेक पालनीय नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है।[२] अत्यन्त संक्षेप में भक्तस्थल भक्त को अनुभवसूत्र में इस प्रकार कहा गया है–

अस्याः स्वरूपसद्भावात् सद्भक्तिरिति कीर्तिता।
तद्भक्त्यैव तथा चास्य भक्तस्थलमुपागतम्।।[३]

२. माहेश्वरस्थललक्षणम्–

षट्स्थल उपासना के क्रम में माहेश्वरस्थल द्वितीय सोपान है। पारमेश्वर आगम में माहेश्वर का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जो साधक भक्त गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से सदा इष्टलिंग की पूजा होता है और अपनी शक्ति के अनुसार जंगमों की भी पूजा करता है उसे माहेश्वर कहते हैं। हे देवि! जो त्रैकालिक इष्टलिंग की पूजा करता है, मेरे भक्तों के प्रति भक्तभाव रखता है तथा वीरशैव मत में प्रतिपादित आचारों का पालन करता है, वह माहेश्वर है। यह माहेश्वर स्थल जल तत्त्व का प्रतिनिधि है, यह मेरी दूसरी मूर्ति है। इसका अधिपति मैं ही हूँ। हे शिवे! आचार के पालन और जंगम के पूजन में जो साधक निष्ठा-भक्ति पूर्वक लगा हुआ है उसे ही माहेश्वर स्थल कहते हैं।[४] सिद्धान्तशिखामणि के अनुसार माहेश्वरस्थल इस प्रकार है–

---

१. सिद्धान्तशिखामणि ५.२७-३०
२. सिद्धान्तशिखामणि ९.१-४९,९.७८
३. अनुभवसूत्रम् ५.७१
४. यो गुरूक्तेन मार्गेण लिङ्गपूजारतः सदा। जङ्गमानर्चयेच्छक्त्या स हि माहेश्वरः स्मृतः।।
त्रिकालमर्चयेल्लिङ्गं मम भक्तेषु भक्तमान्। स्वमताचारनिरतः स वै माहेश्वरः प्रिये।।
जलतत्त्वमिदं देवि तनुरन्यतमा मम। तस्याधिदेवता चाहं सोऽहं देवि न संशयः।।
य उक्तलक्षणस्तु स्यादाचरे जङ्गमार्चने। स्थलं माहेश्वरं विद्धि मम चातिप्रियं शिवे।।
पारमेश्वरागम ६.१३-१६

विश्वस्मादधिको रुद्रो विश्वानुग्रहकारकः।
इति यस्य स्थिरा बुद्धिः स वै माहेश्वरः स्मृतः।।
ईश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां महानिति।
बुद्धियोगात् तदासक्तो भक्तो माहेश्वरः स्मृतः।।
अनादिमुक्तो भगवानेक एव माहेश्वरः।
मुक्तिदश्चेति यो वेद स वै माहेश्वरः स्मृतः।।[1]

अनुभवसूत्र में निष्ठा-भक्ति से युक्त ही साधक को माहेश्वर के नाम से जाना जाता है।[2]

३. प्रसादीस्थललक्षण-

षट्स्थल उपासना के क्रम में प्रसादीस्थल तृतीय सोपान है। यहाँ आचारशील साधक ही प्रसादी के नाम से जाना जाता है। पारमेश्वरागम में भगवान् शिव कहते हैं कि- हे महेश्वरी! जो भगवान् को बिना अर्पित किये और जंगमों की पूजा किये बिना घोर संकट आ जाने पर भी भोजन नहीं करता और मुझे समर्पित भोजन का कभी परित्याग नहीं करता, उसे प्रसादी कहते हैं। वह बिना किसी सन्देह के मेरा ही स्वरूप है, उसे प्रसादीस्थल जानना। यह मुझे अत्यन्त प्रिय है। प्रसादीस्थल अग्नितत्त्व का स्वरूप है। यह मेरी तीसरी मूर्ति है तथा बिना किसी संशय के इसका अधिपति देवता मैं ही हूँ।[3] सिद्धान्तशिखामणि से भी इस कथन की पुष्टि होती है, तदनुसार-

प्रसादमूला सर्वेषां भक्तिर्व्याभिचारिणी।
शिवप्रसादहीनस्य भक्तिश्चापि न सिद्ध्यति।।

---

१. सिद्धान्तशिखामणि १०.८,१०,१२

२. नैष्ठिकी भक्तिरित्येव कीर्तिता भक्तितत्परैः।
तया माहेश्वरं नाम स्थलमस्य स्वरूपतः।। अनुभवसूत्रम् ५.७३

३. योऽनर्पितं महेशानि नार्चयित्वापि जङ्गमान्।
नाश्नाति न त्येजन्मह्यमर्पितं कृच्छ्रगोऽपि वा।।
सोऽयं प्रसादी कथितः सोऽहमेव न संशयः।
तत्प्रसादिस्थलं विद्धि मम चातिप्रियं शिवे।।
अग्नितत्त्वमिदं देवि तनुरन्यतमा मम।
तस्याधिदेवता चाहं सोऽहमेव न संशयः।। पारमेश्वरागम ६.१७-१९

गर्भस्थो जायमानो वा जातो वा ब्राह्मणोऽथवा।
अन्त्यजो वापि मुच्येत प्रसादे साति शाङ्करे।।[1]

इस प्रकार गुरुलिंग, जंगम आदि की महिमा को जानकर जातिभेद आदि का परित्याग कर समानरूप से शिव-शरणागत होकर शिव प्रसाद को ग्रहण करने वाला प्रसादी होता है। अनुभवसूत्र में कहा गया है कि-

अवधानात्मिका भक्तिरिति प्रोक्ता महात्मभिः।
भक्त्या तयास्य जीवस्य प्रसादिस्थलमागतम्।।[2]

अवधानभक्त्या शिवप्रसादं प्राप्य, समस्त संसार शिवरूप है ऐसा देखता हुआ सदा प्रसन्नचित्त साधक पद्मपत्र की तरह वर्तमान संसार से निर्लिप्त रहता है।

४. प्राणलिङ्गिस्थललक्षण

षट्स्थल वर्णन के क्रम में चतुर्थस्थल प्राणलिङ्गिस्थल के नाम से प्रख्यात है। पारमेश्वर आगम में यह प्रतिपादित है कि अपने प्राण के समान ही इष्टलिंग में और इष्टलिंग के समान ही शिव में, अर्थात् प्राण, इष्टलिंग तथा शिव इन तीनों में समान बुद्धि रखने वाला प्राणलिंगी कहलाता है। जो व्यक्ति सूक्ष्म प्राणलिंग के स्वरूप को जानकर उसकी उपासना करता है, वह निःसन्देह साक्षात् रुद्र का ही स्वरूप है। यही प्राणलिंगीस्थल है। मुझे अत्यन्त प्रिय है। यह प्राणलिंगी वायुतत्त्व का स्वरूप है। निर्विवाद रूप से इसका अधिपति देवता मैं ही हूँ।[3] सिद्धान्तशिखामणि में प्राणलिंगी को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि-

लिङ्गं चिदात्मकं ब्रह्म तच्छक्तिः प्राणरूपिणी।
तद्रूपलिङ्ग विज्ञानी प्राणलिङ्गिति कथ्यते।।

---

१. सिद्धान्तशिखामणि ११.६९-७०

२. अनुभवसूत्रम् ५.७५

३. यथा प्राणे तथा लिंगे यथा लिङ्गे तथा शिवे।
प्राणलिङ्गशिवेष्वेकबुद्धिमान् प्राणलिङ्गिकः।।
यः प्राणलिङ्गलिङ्गी स्यात् स रुद्रो नात्र संशयः।
प्राणलिङ्गिस्थलमिदं मम चातिप्रियं शिवे।।
वायुतत्त्वमिदं देवि तनुरन्यतमा मम।
तस्याधिदेवता चाहं सोऽहमेव न संशयः।। पारमेश्वरागम ६.२०-२२

संविल्लिङ्गपरामर्शी बाह्यवस्तुपराङ्मुखः।
यः सदा वर्तते योगी प्राणलिङ्गी स उच्यते।।
मायाविकल्पजं विश्वं हेयं सञ्चिन्त्य नित्यशः।
चिदानन्दमये लिङ्गे विलीनः प्राणलिङ्गवान्।।[१]

स्पष्ट है यहाँ अनुभव की प्रधानता है। इतएव इसे अनुभवभक्ति कहा जा सकता है। भ्रमरकीटन्याय से साधक अपने हृदय में प्राणलिङ्ग का साक्षात्कार कर मुक्त हो जाता है—

स्वानुभूति निबन्धेन कीर्तिताऽनुभवात्मिका।
प्राणलिङ्गिस्थलं चास्य तया भक्त्या समागतम्।।[२]

कीटो भ्रमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम्।
मानवः शिवयोगेन शिवो भवति निश्चयम्।।[३]

५. शरणस्थललक्षण—

षट्स्थल के सोपान क्रम में शरणस्थल पाँचवाँ सोपान है। इसका वर्णन करते हुए पारमेश्वर आगम कहता है कि जो साधक भक्त तीनों प्रकार की तृष्णा (पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा) से जो मुक्त है। सदा एकान्त वास करता हुआ सदा मेरे ध्यान में रत रहता है, वह शरण कहलाता है। इस प्रकार शरणस्थल का अधिकारी मृत्यु के पश्चात् साक्षात् शिव हो जाता है। इसी स्थिति को शरणस्थल कहा जाता है। यह मुझे अत्यन्त·प्रिय है। यह शरण आकाशतत्त्व का स्वरूप है। निर्विवाद रूप से इसका अधिपति मैं ही हूँ।[४] सिद्धान्तशिखामणि में पूज्पाद आचार्य श्री रेणुकाचार्य जी कहते हैं कि—

---

१. सिद्धान्तशिखामणि १३.३, १२.४-५
२. अनुभवसूत्रम् ५.७७
३. लिङ्गपुराण, उ. २१.९५
४. ईषणात्रयनिर्मुक्तो नित्यमेकान्तसेवनः।
मम ध्यानरतो नित्यं शरणः परिकीर्तिता:।।
शरणत्वाधिकारी यः स देहान्ते शिवो भवेत्।
शरणाख्यस्थलमिदं मम चातिप्रियं शिवे।।
व्योमतत्त्वमिदं देवि तनुरन्यतमा मम।
तस्याधिदेवता चाहं सोऽहमेव न संशयः।।
पारमेश्वर आगम ६.२३-२८

अङ्गलिङ्गी: ज्ञानरूप: सती ज्ञेय: शिव: पति:।
यत्सौख्यं तत्समावेशे तद्वान् शरणनामवान्।।
सतीव रमणे यस्तु शिवे शक्ति विभावयन्।
तदन्यविमुख: सोऽयं ज्ञात: शरणनामवान्।।[१]

यह भक्ति सतीपतिन्यायेन अलौकिक आनन्द का अनुभव कराती है। अतएव यह आनन्द भक्ति है। भक्ति सम्प्रदाय में सर्वत्र परमात्मा पति रूप में जीवात्मा सती रूप में व्याख्यायित है। मनोवैज्ञानिक दाम्पत्य प्रभाव परिलक्षित है।

प्रोक्ताऽऽनन्दात्मिका भक्तिरिति वेदान्तवेदिभि:।
अस्यात्मनस्तया भक्त्या शरणस्थामागतम्।।[२]

६. शिवलिङ्गैक्यलक्षणम् (ऐक्यस्थललक्षणम्)

अन्तिम सोपान ऐक्यस्थल के नाम से प्रख्यात है। "एकस्य भाव ऐक्यम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार शरण नामक साधक सदा परशिव के साथ समरस रहता है और इसे ही ऐक्य कहा जाता है। पारमेश्वर आगम में शिवजी कहते हैं कि हे शिवे! जब साधक की साधना ऐसी स्थिति में पहुँच जाती है जहाँ पूजा, ध्यान, योग और करण आदि की कोई आवश्यकता न हो, ऐसा शिवलिंगी जब कुछ मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ऐसी दृढ भावना में लीन हो जाता है तो वह शिवैक्य कहलाता है। यह शिवैक्य साक्षी तत्त्व का स्वरूप है। मेरी प्रधानमूर्ति है। शिवैक्य स्थल को प्राप्त शिवयोगी साक्षात् मेरा स्वरूप है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।[३] षट्स्थल का ज्ञान देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। इसके जान लेने पर मनुष्य जन्म और संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है

---

१. सिद्धान्तशिखामणि १३.२,५

२. अनुभवसूत्रम् ५.७९

३. न पूजा नैव च ध्यानं न योगकरणादिकम्।
अहन्ताभावनाधीर: शिवलिङ्गैक्यसंज्ञक:।।
य एष शिवलिङ्गैक्यसंज्ञक: परमेश्वर:।
स्थलं तच्छिवलिङ्गैक्यं ममचातिप्रियं शिवे।।
साक्षितत्त्वमिदं देवि प्रधानेयं तनुर्मम।
ममरूपमिदं विद्धि सोऽहमेव न संशय:।। पारमेश्वरागम ६.२६-२८

क्योंकि यह रहस्यात्मक परम पद है।[१] सिद्धान्तशिखामणि ऐक्य दशा का वर्णन करते हुए कहता है–

विश्वं शिवमयं चेति सदा भावयतो धिया।
शिवैकभाजनात्मत्वादेकभाजनमुच्यते।।
शिवे विश्वमिदं सर्वं शिवः सर्वत्र भासते।
आधाराधेयभावेन शिवस्य जगतः स्थितिः।।
वृत्तिशून्ये स्वहृदये शिवलीने निराकुले।
यः सदा वर्तते योगी स मुक्तो नात्र संशयः।।[२]

ऐक्यस्थल को नदी समुद्र न्याय से 'समरसभक्ति' का प्रतिपादन करते हुए अनुभवसूत्र कहता है–

सामरस्य प्रभावेण प्रोक्ता समरसात्मिका।
ऐक्यस्थलं तया चास्य चेतनस्य समागतम्।।[३]

भक्ति के मूल में जप, तप, दान-समाधि की अपेक्षा श्रद्धा का सर्वाधिक महत्त्व है।[४]

समस्त भक्तिमान् जन की वर्ण-लिङ्ग-वयो-भेद के बिना आगम प्रपिादित चतुर्वर्ग की अधिकारिता है।[५] गीता में श्री भगवान् कहते हैं –

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोजनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।[६]

OOO

---

१. पारमेश्वर आगम ६.२९.३०
२. सिद्धान्तशिखामणि १४.२८,३०,३३
३. अनुभवसूत्रम् ५.८१
४. पारमेश्वरागम १२.८७७
५. पारमेश्वरागम १२.९३
६. गीता ९.३२

मण्डप, मण्डल, कुण्ड आदि का विधान

•

आचार्य व्रजवल्लभ द्विवेदी

शैवभारती धोश प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी से वीरशैवमत के पाँच आगमों का भाषानुवाद के साथ प्रकाशन हुआ है। इनमें पारमेश्वरागम, मतंग पारमेश्वर से भिन्न है। इसमें पादविभाग नहीं है। इसी तरह चन्द्रभानागाम, सूक्ष्मागम, मकुटागम और कारणागम भी २८ सिद्धान्तागमों में वर्णित मूल आगमों के उत्तर भाग के रूप में मान्य हैं। सिद्धान्तशिखामणि (५.१४) में बताया गया है कि कामिक आदि आगमों के उत्तर भाग में वीरशैव मत का विशेष रूप से वर्णन है। इन सभी आगमों में अग्नि-कार्य विधि के प्रसंग में वैदिक कर्मकाण्ड का स्पष्ट रूप से अनुसरण किया जाता है।

अग्नि-वार्य के लिए मण्डप और कुण्ड का निर्माण अपेक्षित है और शिष्य की दीक्षा मण्डल में की जाती है। अन्य का पुरश्चरण करते समय भी आहुति-दान के लिए कुण्ड अपेक्षित है। पारमेश्वरागम के चतुर्थ पटल में होमविधि निरूपित है। यहाँ की विशेषता यह है कि कुण्ड के साथ यहाँ स्थण्डिल का भी वर्णन हुआ है। स्थण्डिल के तीन और कुण्ड के पाँच भेद यहाँ बताए गए हैं। चतुरस्र, त्र्यस्र और वृत्त– ये तीन स्थण्डिल के तथा चतुरस्र, त्र्यस्र, वृत्त, अर्धचन्द्र और कमठ[1] – ये पाँच कुण्ड के भेद प्रदर्शित हैं। स्थण्डिल पर हवन करने से सभी प्रकार की सम्पत्ति की प्राप्ति होती है और कुण्ड में आहुति देने पर सभी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं। त्रिविध स्थण्डिल पर हवन करने पर क्रमशः धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। इसी तरह पाँच प्रकार के कुण्डों में आहुति देने पर व्यक्ति क्रमशः धर्म, अर्थ, काम, सायुज्य और कैवल्य का भागी बनता है।

अग्नि के आहरण के प्रसंग में बताया गया है कि सूर्य की किरणों से अथवा अरणि के मन्थन से उत्पन्न अग्नि का अथवा शिव मन्दिर या शिवयोगी के गृह से लाई गई अग्नि का हवन में उपयोग किया जाता है। भू प्रदेश के वीक्षण आदि आठ संस्कार, कुण्ड में अग्नि की स्थापना और उसमें भगवान् रुद्र का ध्यान आदि करने के उपरान्त अग्नि के जातकर्म आदि संस्कार किये जाते हैं। अग्नि की सात जिह्वाएँ यहाँ वर्णित हैं और इनमें विभिन्न कामनाओं की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले हवनों का विधान है। लेलिहान्त, कराली, रोचिष्केशा, त्रिलोहिता, विद्युत्, प्रभा

और शिवा – ये इनके नाम हैं। आगे कुण्ड की मेखला में तिरपन[२] देवताओं के पूजन का क्रम बताकर अग्नि की शिव के रूप में प्रार्थना की गई है। परिधि-स्थापन, यज्ञपात्र-स्थापन आदि के अनन्तर स्त्रुक् और स्त्रुवा की सहायता से पूर्णाहुति पर्यन्त किए जाने वाले होम का प्रकार भी यहाँ प्रदर्शित है।

पारमेश्वरागम के तृतीय पटल के कुछ श्लोकों में मण्डप-मण्डल निर्माण और कलश स्थापन का विधान वर्णित है। (१०.२६) पर भी मण्डप की संक्षिप्त चर्चा है और आगे (१९.२४) मृत व्यक्ति के स्मारक के लिए यह शब्द प्रयुकत हुआ है।

अन्य चार आगमों में से सूक्ष्मागम में अग्निकार्य-विधि की कोई चर्चा नहीं है। एक स्थान पर (८.१०) केवल कुण्ड, मण्डल और होम शब्द मिलते हैं। शेष तीन आगमों में भी इसकी संक्षिप्त-सी चर्चा है। जैसे चन्द्रज्ञानागाम के क्रियापाद (११.४७-५७) में शैव संस्कार से संस्कृत शिवाग्नि में स्थालीपाक आदि का विधान बताया गया है। गार्हपत्य आदि अग्नियों को यहाँ वैतानग्नि कहा गया है। यहाँ की टिप्पणियों में "वैतानास्त्तां वह्नयः पावयन्तु" (४.७) कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के इस पद्य में सूचित वह्नियों का परिचय दिया गया है। समिधा का प्रसंग यहाँ अधिक विस्तार से आया है। अपामार्ग, दूर्वा और कुशा की भी गणना यहाँ समिधा[३] में की गई है। समिधा के साथ यहाँ पवित्र[४] और वेद का लक्षण बताकर इध्म और परिधि का प्रमाण भी बताया गया है। अग्नि के विभिन्न अंगों की यहाँ कल्पना की गई है और उनमें आहुतियाँ देने से प्राप्त होने वाले फलों का भी वर्णन है।

मकुटागम के क्रियापाद (२.२४-३२) में संक्षेप में ही अग्निकार्य-विधि वर्णित है। यहाँ शिवाग्नि के शिव की घोर तनु बताया गया है। सुवर्ण, कनका, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, बहुरक्ता और अतिरिक्ता नामक सात अग्नि-जिह्वाओं का उल्लेख कर इनकी दिशाओं और इनमें संपाद्य कर्मों का एवं शिवाग्नि का ध्यान भी यहाँ वर्णित है।

वीरशैवागम के कारणाम और सिद्धान्तशिखामणि आदि ग्रन्थों में वेधा, मान्त्री और क्रिया नामक त्रिविध दीक्षाओं का विधान है। कुण्ड और मण्डल स्थित देवताओं के समसशिष्य को जो दीक्षा दी जाती है, उसे क्रिया दीक्षा कहते हैं। क्रिया दीक्षा, उसके समविध भेद और मण्डप के निर्माण की पद्धति का विशेष विवरण "भारतीयतन्त्रशास्त्र" में समाविष्ट "वीरशैवों के दीक्षादि विधि विधान" (पृ.३६०-३६३) शर्षक निबन्ध में देखिए। वहीं (पृ. ४४४-४४५) मण्डल दीक्षा

के प्रसंग में भी। त्रिविध मनुषों का स्वरूप प्रदर्शित है। कारणागम (१.१२) के अनुसार गुरु के द्वारा शिष्य को जो इष्टलिंग का दान और उसके कारण शिष्य के मलत्रय का जो क्षय होता है, यही दीक्षा शब्द का अर्थ है। शिष्य की दीक्षा को सम्पन्न करने के लिए गुरु मण्डप आदि का निर्माण करता है। उसका कारणागम (१.१६-२८) में इस प्रकार निर्दिष्ट है-

योगय शिष्य को दीक्षा देने के लिए शुभ मुहूर्त में दीक्षा के अंगभूत द्रव्यों को प्रयत्नपूर्वक संग्रह कर लेने के उपरान्त शास्त्रीय पद्धति से मण्डप का निर्माण किया जाता है। दस, बारह या चौदह हाथ के परिमाण वाला मण्डप दीक्षा के लिए बतलाया जाता है। इस मण्डप में चौदह खम्भे होने चाहिए। मण्डप की ऊँचाई पाँच हाथ की हो। यह चौकोर होगा। चार द्वार चार तोरणों से सुशोभित रहेंगे। इसके पूर्व में न्यग्रोध, दक्षिण में गूलर, उत्तर में पीपल और पश्चिम में प्लक्षवृक्ष रहना चाहिए। 'न्यग्रोधस्तस्य पूर्वस्याम्' (१.१७) इत्यादि श्लोक सिद्धान्त-सारावलि की टीका (पृ.१५८) में भी उपलब्ध है। इस मण्डप को नौ भागों में विभक्त करे। मध्य भाग में एक वेदि वमावे, जो एक हाथ ऊँची दर्पण के उदर के समान हो।

मण्डप में नौ अथवा पाँच अथवा एक कुण्ड का निर्माण कराये। (यदि नौ कुण्ड बनाते हों, तब) पूर्व में चौकोर, अग्नि कोण में पीपल के पत्ते के आकार का, दक्षिण में अर्धचन्द्र के आकार का, नैर्ऋत्य कोण में त्रिकोणाकार, पश्चिम में गोलाकार, वायव्य कोण में षट्कोणात्मक, उत्तर में कमल के आकार का, ईशान कोण में अष्टकोणात्मक, ईशान कोण और पूर्व के बीच वृत्ताकार या चौकोर – इस प्रकार नौ कुण्डों का निर्माण कराए। (यदि पाँच कुण्ड बनाने हों, तब) पूर्व में चौकोर, दक्षिण में अर्धचन्द्रकार, पश्चिम में गोलाकार, उत्तर में कमल के आकार का तथा ईशान कोण में गोलाकार कुण्ड बनावे। यदि एक ही कुण्ड बनाता है, तो पूर्व या उत्तर या पश्चिम या ईशान कोण में चौकोर अथवा गोलाकार रूप में बनावे। अथवा एक हाथ के माप का, बालू या मिट्टी का, तीन अंगुल की ऊँचाई वाला एक चबूतरा (स्थण्डिल) बनावे। इस प्रकार मण्डप की रचना हो जाने के बाद उसे झंडी आदि से, मोतियों से जटित चंद से; फल, पत्ते, कमल, केले आदि की कालाओं से दर्पण, धूपबत्ती आदि से सजावे। वहाँ पाँच रंगों को मिला कर अथवा केवल सफेद चूर्ण से गौरीलता लिंग नामक मण्डल का आलेखन करे। इस मण्डल का स्वरूप सिद्धान्तसारावलि (क्रि.६१) में वर्णित है। इस प्रकार कारणागम के इस प्रकरण में मण्डप, कुण्ड, स्थण्डिल और मण्डल का विधान संक्षेप में बताया गया है। चतुरस्र, अर्धचन्द्र, त्रिकोण, वृत्त, षडस्र, पद्म और अष्टलोपा नामक सात कुण्ड

भी यहाँ उल्लिखित हैं। इन सबका लक्षण सिद्धान्तसारावलि (पृ.१६३-१६६) में देखा जा सकता है।

कारणागम में आगे (४.१७-२६) पद्म, भद्र और सत्त्व नामक तीन मण्डलों का स्वरूप बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि पूजा के उपयोगी पात्रों की यहाँ विन्यास किया जाता है। अवसरा, लघ्वी और गुर्वी नामक त्रिविध पूजाओं के प्रसंग में यथायोग्य इनकी रचना की जाती है। कारणागम (८.४-११) की यह बात विशेष रूप से हमारा ध्ययान आकृष्ट करती है कि तान्त्रिक मन्त्रों में सबका समान अधिकार है। वेद मार्गी वैदिक मन्त्रों के साथ तान्त्रिक मन्त्रों से भी शिव की उपासना कर सकता है।

वीरशैवागमों में वर्णित अग्नि-समाराधन की इस प्रक्रिया का त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्त सारावलि और अनन्तशंभुरचित उसकी टीका में अधिक विस्तार से वर्णन हुआ है। द्वैतवादी सिद्धान्तागमों के आधार पर इन ग्रन्थों की रचना हुई है और यह ग्रन्थ भी शैवागमों के समान ही चारपादों में विभक्त है। इन आगमों के क्रियापाद में दीक्षा के प्रसंग में भू-कर्षण से लेकर प्रतिष्ठापर्यन्त कार्यकलाप वर्णित हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ.१३७-१४७) में दीक्षा के प्रसंग में दी जाने वाली आहुतियों की पद्धति को बताने के लिए कुण्ड-संस्कार आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। टीकाकार ने वहाँ सर्व प्रथम नेमि (मेखल) और नाभि (कुण्ड-योनि) आदि कुण्ड के अवयवों के निर्माण की पद्धति की बताकर कुण्ड के निरीक्षण, प्रोक्षण आदि अठारह प्रकार के संस्कारों का स्वरूप बताया है। कुछ आचार्य अक्षपाट[५] नामक संस्कार की भी चर्चा करते हैं। टीकाकार ने इस मत का सयुक्तिक खण्डन किया है और कहा है कि यह संस्कार कुण्ड का नहीं, मण्डप का है। कुण्ड के इन संस्कारों को करने के बाद उसमें वागीश्वरी और वागीश्वर का आवाहन किया जाता है। तब अरणि कमे अथवा सूर्यकान्त मणि से उत्पन्न, द्विज (श्रोत्रिय) के घर से अथवा अपने घर से मृत्पात्र अथवा ताम्रपात्र में रखकर लाई गई वह्नि को कुण्ड में स्थापित किया जाता है। कुण्ड में स्थापित वह्नि की नाभिकुण्ड में स्थित वह्नि से अभेदभावना की जाती है। कुण्ड में स्थापित वह्नि में यह भी भावना की जाती हे कि इसकी उत्पत्ति वागीशी के गर्भ से हुई है। इससे अग्नि के गर्भाधान आदि संस्कारों की सूचना मिलती है। टीकाकार ने विस्तार से इनका स्वरूप बताया है। इस अग्नि की पंचवक्त्र शिव से अभिन्नता मानकर शिव की अड़तीस कलाओं का न्यास भी इसमें किया जाता है और इस अग्नि को शिवाग्नि[६] नाक दिया जाता है। पंचवक्त्र शिव के विभिन्न वक्त्रों

में कामना के भेद से आहुतियाँ दी जाती हैं। इस प्रसंग में वक्त्राभिधारण, वक्त्रसन्धान, वक्त्रैकीकरण की प्रक्रिया का वैदिक अनुष्ठान से कोई संबन्ध न रहने पर भी वैदिक व्याकरण[७] विधि से समरूपता विशेष रूप से अवलोकनीय है। कुण्ड और अग्नि के संस्कारों के बाद यहाँ घृत के अठारह संस्कारों को भी बताया गया है। स्रुक् में शक्ति का और स्रुवा में शिव का न्यास कर पूर्णाहुति की प्रक्रिया को बताकर अन्त में अनेक प्रकार के काम्यफलों की प्राप्ति के लिये काम्य होम का क्रम भी प्रदर्शित है। हम यहाँ देखते हैं कि यह पूरा प्रकारण प्राय: वैदिक विधि के अनुकूल है। यत्र तत्र शैवागमों का प्रभाव भी स्पष्ट है।

सिद्धान्तसारावलि में आगे (पृ.१४७-२०२) विभिन्न दीक्षाओं के स्वरूप का और उन से प्राप्त होने वाले फल का निरूपण करने के बाद दीक्षा के योग्य मास, नक्षत्र, वार आदि का विचार कर दीक्षाविधि की सम्पन्नता के लिए बनाये जाने वाले मण्डपों का लक्षण बताया गया है। यागधाम (यज्ञशाला) के नाम से यह विषय वहाँ (पृ. १५७-१६१) वर्णित है। इन मण्डपों को भी अठारह प्रकार के संस्कारों से संस्कृत किया जाता है। इसी प्रसंग में वेदिका का विस्तार और उसका लक्ष्मण भी प्रदर्शित है। कारणागम की पद्धति से इस विषय की चर्चा पहिले हो चुकी है। नाना प्रकार के मण्डपों (मण्टप) के निमार्ण की प्रक्रिया का सचित्र विवरण पांडिचेरी से प्रकाशित रौरवागम के द्वितीय भाग में क्रियापाद के ४०वें पटल में देखा जा सकता है। यज्ञशाला के निर्माण में आज भी इसी पद्धति का अनुसरण किया जाता है। सभा-संमेलनों के अवसर पर सजाये जाने वाले पंडालों में भी हमें इसी दृष्टि का अनुसरण देखने को मिलता है।

मण्डप, वेदिका और उपवेदिका (नेमि) के स्वरूप को बताने के बाद यहाँ (पृ.१६१-१६८) अष्टविध कुण्डों के निर्माण का प्रकार विस्तार से प्रदर्शित है। प्रस्तुत ग्रन्थ में चतुष्कोण, योनि, अर्धचन्द्र, त्रिकोण, वृत्त, षडत्र, पद्म और अष्टकोण नामक आठ कुण्डों का स्वरूप और इन कुण्डों में संपाद्य विविध काम्य कर्मों का उल्लेख किया गया है। इनमें से सात प्रकार के कुण्डों के नाम बौद्ध तन्त्रों में भी मिलते हैं, किन्तु इन कुण्डों के निर्माण की पद्धति आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में हमें सर्वप्रथम यही देखने को मिली। वस्तुत: यह विषय प्रमुख रूप से वैदिक वाङ्मय से संबद्ध है।

अष्टविध कुण्डों की चर्चा के उपरान्त आगे (पृ.१६८-१८१) स्रुक् और स्रुवा नामक होमपात्रों का तथा विष्टर, परिधि, इध्म, समिधा, ज्ञानखड्ग आदि यागोपकरणों का स्वरूप भी पूरी तरह से वैदिक विधि का अनुसरण करता है।

टीकाकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि स्रुक् और स्रुवा का निर्माण एक ही काष्ठ-काण्ड से किया जाता है। होम के साधन तिल, घृत, चरुपाक आदि तथा दीक्षा के कर्तरी, सप्तविध विकिर, पाशसूत्र आदि विभिन्न उपकरणों का संग्रह, कुम्भ (कलश) में शिवदेह की भावना, वेदि के निर्माण के लिए चतुरस्र क्षेत्र का विस्तार जैसे विषय भी वर्णित है।

इसके उपरान्त (पृ.१८१-२०१) अगले १९ श्लोकों (४७-६५) में प्रथमतः पद्म मण्डल की रचना का क्रम और उसके रंजन की पद्धति को स्पष्ट किया गया है। श्वेत आदि चूर्णों के उपदान-द्रव्य भी यहाँ (पृ.१८४) परिगणित हैं। तब पद्म-पीठ के वर्ण-विशेषों का और सत्त्व-रज-तमोमय रेखाओं का विस्तार प्रदर्शित है। आगे पीठ के निर्माण की विधि को बताकर क्रमशः लतालिंग, नवनाभ, अनन्तविजय, भद्र, पुराकार, गौरीलताकार, सुभद्र, उमाकान्त और स्वस्तिक नाम के मण्डलों का स्वरूप बताया गया है। इनमें से गौरीलतालिंग नामक मण्डल की चर्चा कारणागम (१.२८) में आई है। वातुलशुद्धाख्यतन्त्र (पृ.४३) में जिस मण्डल का रंगीन चित्र दिया गया है, उसकी तुलना हम पद्मपीठ से कर सकते हैं।

इस प्रकार के अन्त (पृ.२०१-२०२) में चण्डेश्वर की पूजा के लिए उपयोगी टंक नामक अर्धचन्द्र मण्डल का स्वरूप प्रदर्शित है। इन मण्डलों में न्यसनीयदेवताओं में से तत्पुरुष आदि पंच-ब्रह्म देवताओं का वर्ण (पृ.१८६) पर तथा आठ दिक्पालों का (पृ.१९१) पर प्रदर्शित है।

दीक्षोपयोगी मण्डप, कुण्ड, मण्डल आदि के निर्माण का प्रकार बताने के बाद यहाँ आगे (पृ.२०२-२१५) समय दीक्षा के उपयोगी ३१ संस्कारों का विधान विस्तार से बताया गया है। मण्डल-रचना के बाद गुरु के द्वारा विधीयमान कृत्यों का क्रम बताकर दीक्षणीय शिष्य का मण्डल में आवाहन, अक्षिबन्धन एवं पुष्पपात-विधि नामकरण एवं शिवहस्त-स्थापन, नाडीसन्धान आदि दीक्षा के सात प्रमुख संस्कारों का विशेष रूप से वर्णन है। आगे विशेष दीक्षा के आवश्यक, दीक्षणीय शिष्य का वागीश्वरी के गर्भ से जन्म, यज्ञोपवीतधारण, वागीश्वरी के गर्भ[१] से उत्पन्न जीव के विविध संस्कार, पूर्वात्मयोग, गुरुपूजन एवं समयाचारों का पालन जैसे विषयों का विस्तार से विवरण दिया गया है।

शैवागमों के समान वैष्णवागमों, अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञाशास्त्र (काश्मीर शैव) और शाक्तमत में भी अग्नि-समाराधन का विधान हो, यह तो स्वाभाविक ही लगता है, किन्तु बौद्ध तन्त्र भी इस प्रसंग में वैदिक विधि का अनुसरण करते हैं, इस विषय को हम यहाँ संक्षेप में सप्रमाण प्रस्तुत करना चाहते हैं।

बौद्धतन्त्रों में कालचक्र तन्त्र एवं उसकी विमलप्रभा[१०] टीका का विशेष स्थान है। यहाँ भी हमें अग्निकार्य के प्रसंग में वैदिक कर्मकाण्ड का प्रभाव दृष्टिगत होता है। त्रिविध अथवा पंचविध अग्नियों का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में मिलता है। यहाँ भी दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय नामक त्रिविध अग्नियाँ वर्णित हैं, किन्तु उनकी व्याख्या भिन्नप्रकार से की गई है। द्वितीय अध्याय पटल के ३६वें श्लोक में बताया गया है कि हृदय, कण्ठ और नाभि में क्रमशः ये तीनों अग्नियाँ स्थित हैं। हृदय-स्थित अर्धचन्द्राकार विद्युदग्नि ही दक्षिणाग्नि है। कण्ठ-कमल में वृत्ताकार सूर्याग्नि ही गार्हपत्याग्नि और नाभि-स्थान में चतुरस्राकार क्रव्यादाग्नि ही आहवनीयग्नि है। इन सबके अक्षर सत्यानामक चतुर्थ ज्ञानाग्नि विद्यमान है। यहाँ चन्द्र-सूर्य आदि की काई सत्ता नहीं है।

आगे भी अभिषेक पटल (३.७४-७५) में होमविधि के प्रसंग में त्रिविध वैश्वानर के रूप में इन्हीं का वर्णन है। हम जानते हैं कि बौद्ध तन्त्रों में दीक्षा के स्थान पर अभिषेक का विधान है। आनन्द-स्वरूप सत्यनामक चतुर्थ अग्नि का यहाँ भी उल्लेख है और बताया गया है कि सभी प्रकार का होम इसी में करना चाहिए। यहाँ "क्रव्यादमग्निम्" इत्यादि ऋग्वेद (१०.१६.१९) की पूरा मन्त्र उद्धृत किया गया है और कहा गया है कि प्रस्तुत स्थल में भी क्रव्याद अग्नि का यही अर्थ गृहीत है। सूर्याग्नि की सात जिह्वाओं का भी वहाँ (भा.२, पृ.७५) उल्लेख है, किन्तु जिह्वा के रूप में यहाँ सातवारों की चर्चा है, अग्नि की लेलिहाना[११] आदि जिह्वाओं का नहीं।

विमलप्रभाकार ने आहवनीयाग्नि को ही क्रव्यादाग्नि माना है। अपा उद्धृत ऋग्वेद का मन्त्र शुक्लयजुर्वेद (३५.२९) में भी उपलब्ध है। पितृमेध प्रकरण का यह मन्त्र है। यहाँ क्रव्यादाग्नि से भिन्न ज्ञानाग्नि का उल्लेख किया है। उसका यह अभिप्राय हो सकता है कि अग्निहोत्री का शरीर ज्ञानाग्नि को समर्पित किया जाता है, न कि अग्निहोत्री का शरीर ज्ञानाग्नि को समर्पित किया जाता है, न कि सामान्य व्यक्ति की तरह क्रव्यादाग्नि को। इस विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अग्निचतुष्टय का यह व्याख्यान पूरी तरह से वैदिक वाङ्मय की पृष्ठभूमि में किया गया है। यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि आहवनीयाग्नि का क्रव्यादाग्नि से क्या संबन्ध है?

सिद्धान्तसारावलि में वर्णित अष्टविध कुण्डों की ऊपर चर्चा की गई है। यहाँ भी अध्यात्म पटल के अन्त (श्लो.१५७-१५८) में शान्तिकुण्ड, शान्तिक होम आदि की संक्षिप्त चर्चा कर आगे (भा.२, पृ.११,७०; भा.३, ६५) अष्टविध

कुण्डों का परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त सार्वकर्मिक नामक नवम कुण्ड का भी वहाँ (भा.२, पृ.७०-७२) विधान मिलता है। नवकुण्डपक्ष की चर्चा कारणागम (१.२१-२३) में भी देखी जा सकती है। आठ कुण्डों के नाम विमलप्रभा (भा.२, पृ.१२; भा.३, पृ.६५) में वर्तुल (वृत्त), चतुरस्र, धनुषाकार (अर्धचन्द्र), पंचकोण, सप्तकोण, त्रिकोण, षट्कोण और अष्टकोण[१२] दिये गये हैं। अभिषेक पटल (भा.२, पृ.६-१८) में भपरीक्षा, शान्ति आदि कर्मों के लिए उपयुक्त भूमि की परीक्षा, दिग्-विभाग, तदुपयोगी कुण्ड एवं वेदि आदि का प्रमाण, तदुपयोगी समय, विविध कर्मों के लिए उपयुक्त होने वाली समिधाएँ तथा क्षीर दूर्वा आदि द्रव्य, देवता एवं आसन आदि का निरूपण किया गया है। यही विषय आगे (भा.२, पृ.७०-७६; भा.३, पृ.६५) भी पुनः वर्णित है। अष्टविध कुण्डों का लक्षण, स्वभाव, होमविधि, अग्नि का आहरण आदि के साथ समिधा, आहुति देने के साधन युवक और पात्री आदि की भी यहाँ चर्चा हुई है। इनके अभाव में वरद[१३] हस्त से आहुति दान का भी विधान है। आजकल आहुतिदान की यही विधि विशेष रूप से प्रचलित है। यहाँ (भा.२, पृ.१६) पात्री को स्रुवक का पर्याय बताकर स्रुक् और स्रुवक का लक्षण भी दिया गया है। इतना सब होते हुए भी इनका विशद स्वरूप जानने की जिज्ञासा बनी ही रह जाती है, जो सिद्धान्तसारावलि के सहारे या वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से ही दूर जो पाती है।

मन्त्र-पुरश्चरण (पूर्वसेवा) के प्रसंग में दशांश होम का विधान सभी भारतीय शास्त्रों में मिलता है। यहाँ भी अभिषेक पटल (भा.२, पृ.४) में कोटिजाप के उपरान्त दशलक्ष होम का विधान बताया गया है। चक्री, कुण्डल, कण्ठिका, रुचक, मेखला और [१४]भस्म-यज्ञोपवीत नामक छः मुद्राओं का विवेचन यद्यपि कापालिक यज्ञ एवं बौद्ध तन्त्रों में ही मिलता है, तथापि यहाँ (भा.२, पृ.१८६) भस्म-यज्ञोपवीत नामक छठी मुद्रा का समावेश कापालिक में तो स्वाभाविक माना जा सकता, किन्तु आजकल के नव बौद्धों के लिए यह आश्चर्य की ही बात हो सकती है, क्योंकि भस्म को पाशुपत आदि शैवयज्ञों तक और यज्ञोपवीत को त्रैवर्णिक-विषय शास्त्रों तक ही सीमित माना जाता है। इसी तरह त्रिकाल सन्ध्या की उपासना वैदिक विधि-विधान का ही अंग है। मध्यरात्रि की भी सन्ध्या के रूप में कल्पना कर चार सन्ध्याओं का विधान योग एवं तन्त्रशास्त्र में मान्य हो गया। इन चतुर्विध सन्ध्याओं का विधान योग एवं तन्त्रशास्त्र में मान्य हो गया। इन चतुर्विध सन्ध्याओं का उल्लेख यहाँ स्थलों पर (भा.१, पृ.७४,१०५,१२,२१०; भा.२, पृ.२७,७५; भा., पृ.१७,२०,४,१०४,११२,११७) विविध रूपों में हुआ है। विस्तार

के भय से इन सबका विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है। पंचम ज्ञान पटल में निरूपित चतुर्थ सन्ध्या का आन्तर स्वरूप विशेष रूप से दर्शनार्ह है। स्पष्ट है कि इन बौद्ध तान्त्रिकों कीं दृष्टि उतनी संकीर्ण नहीं थी, जितनी श्रीलंका से पुनरुद्धार के रूप में लाये गये बौद्ध धर्म के अनुयायियों की आज है।

तन्त्रशास्त्र में वैदिक अग्निकार्य-विधि का दो अवसरों पर अनुसरण किया गया है– एक तो शिष्य की दीक्षा के अवसर पर और दूसरा मन्त्र का पुरश्चरण करते समय। कुछ तन्त्रों में पुरश्चरण को ही पूर्व सेवा नाम दिया गया है। ये दोनों ही स्थितियाँ ऊपर प्रदर्शित हैं। यहाँ प्रदर्शित कुछ विषयों की सामूहिक चर्चा उपयोगी हो सकती है।

जैसे कि कुण्डों की संख्या प्रधानतः आठ मानी गई है। विमलप्रभा में सार्वकर्मिक नवाँ कुण्ड माना गया है और कारणागम में नवकुण्ड पक्ष चर्चित है। सिद्धान्तसारावलि में चतुरस्रकुण्ड को ही सार्वकालिक माना है और उसी को आधार मानकर अन्य कुण्डों की रचना का प्रकार बताया है। रचना का प्रकार अन्य नहीं मिलता और उनके नामों में भी मिलता है। सप्ताकोण, कमठ, भग जैसे नामों को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। हम कह सकते हैं कि सिद्धान्तसारावलि वैदिक विधि-विधान का अन्य ग्रन्थें की अपेक्षा अधिक विस्तृत विवरण प्रस्तुत करती है। इन कुण्डों में आकर्षण, वश्य आदि कामनाओं के भेद से जिन विविध द्रव्यों की आहुतियाँ दी जाती हैं, वे भी प्रायः सर्वत्र समान हैं। वीरशैव आगमों में पाँच प्रकार के कुण्डों और तीन प्रकार के स्थाण्डिलों का वर्णन मिलता है। मिलकर संख्या आठ अवश्य हो जाती है, किन्तु कुण्ड और स्थण्डिल का रचना-प्रकार एक-सा नहीं है। कुण्ड के लिए भूमि का खनन आवश्यक है, जबकि स्थण्डिल की रचना भूमि के ऊपर होती है। आजकल अग्निकार्य के लिए कुण्ड की अपेक्षा स्थण्डिल का प्रयोग अधिक होता है।

दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य नामक पाँच अग्नियों में से प्रथम चार श्रौत तथा अन्तिम स्मार्ताग्नि मानी जाती है। श्रौताग्नि वैतानाग्नि[१५] के नाम से प्रसिद्ध है। आवसभ्य को गृह्याणी भी कहा जाता है। अवसथ शब्द गृह की वाची है। अवसथ में रहने से इस अग्नि को आवसथ्याग्नि कहते हैं। गृहस्थ इससे अपने घर में पाक आदि क्रिया भी करता है, अतः इसे गृह्याग्नि भी कहा जाता है। यही अग्नि सात्वतसंहिता (६.१२९) में ओदम्पचन के नाम से वर्णित है। रावण के बुरे इरादे को भाँप कर सीता इसी अग्नि से अपनी रक्षा की प्रार्थना करती है और अग्नि देव सीता की प्रार्थना पर उनके मूल देह को अपने में समेट कर

मायीय देह प्रकट कर देते हैं। रावण इसी मायीय देह का हरण करता है। अग्निपरीक्षा के अवसर पर वे मायीय देह को अपने में समेट कर पुनः उनके मूल देह को प्रकट कर देते हैं।

यीय अग्नि की उत्पत्ति के चार प्रकार यहाँ बताये गये हैं– पणिज, अरणिज, द्विज (श्रोत्रिय) गृहज और स्वारहज। वीरशैव मत में तृतीय और एवं चतुर्थ प्रकार के लिए शिव मन्दिर और शिवयोगी के गृह का ग्रहण किया जाता है। विमल प्रभाकार ने आवसथ्याग्नि को क्रव्यादाग्नि बताया है। श्मशानाग्नि को क्रव्यादाग्नि कहा जाता हे। विमलप्रभाकार ने ऋग्वेद के मन्त्र में वर्णित क्रव्यादाग्नि से भिन्न चतुर्थ ज्ञानाग्नि का भी वर्णन किया है।

अग्नि की सात जिह्वाएँ प्रायः सर्वत्र मान्य हैं, किन्तु इसके नामों में सर्वत्र भिन्नता मिलती है। विवाह आदि कार्यों के लिए अग्नि की अलग-अलग जिह्वाओं में आहुति-दान का विधान है और इनकी पहिचान भी बताई गई है। नेत्रतन्त्र (३.७६) की टीका में क्षेमराज ने अग्नि की नौ[१६] जिह्वाओं का उल्लेख कर उनकी नामावली भी दी है। ऊपर उद्धृत अथवा हमारे परिचित तन्त्र-ग्रन्थों में इन नौ जिह्वाओं का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता, अतः इसके लिए अभी अन्य प्रमाण अपेक्षित हैं। अग्नि के विभिन्न अंगों की भी कल्पना यहाँ की गई है और उनमें आहुतियां देने से प्राप्त होने वाले फलों का भी निरूपण किया गया है।

सिद्धान्तसाराविल में स्रुकु और स्रुवा के अतिरिक्त विष्टर, इध्म और समिधा का लक्षण और प्रमाण बताया गया है। चन्द्रज्ञानागम (१-११.५०) में समिधा में अपामार्ग, दूर्व और कुशा का भी समावेश किया गया है और समिधा के साथ पवित्र प्रदर्शित है। सात्वतसंहिता के भाष्य (पृ.९९) में समिधा के सात प्रकार वर्णित हैं, जिनमें समिधा के अतिरिक्त पुष्प, धूप, मधुपर्क, बीज, चरु और घृत का समावेश है। इसमें चन्द्रज्ञानागम में (१.११.५०) निर्दिष्ट तीन प्रकार समाविष्ट नहीं हैं। तन्त्रागम शास्त्र की पद्धति से यहाँ अग्नि समाराधन की प्रक्रिया निर्दिष्ट है। वैदिक पद्धति से इस विषय की तुलनात्मक समीक्षा अपेक्षित है।

सिद्धान्तसारावलि के अन्तिम भाग (पृ.३४६-३७१) में लिंग और पीठ की उपासना के विभिन्न प्रकार प्रदर्शित हैं। इन्हीं से मिलता-जुलता एक प्रकार वातुलशुद्धात्मतन्त्र में भी मिलता है। इस का वहाँ नवम पटल में मन्त्रमय लिंगोद्धार शीर्षक से सचित्र विवरण देखा जा सकता है। मन्त्रों के उद्धार की पद्धति का भी ज्ञान इससे होता है। प्रायः सभी तन्त्रों में अपनी-अपनी पद्धति से मन्त्रों के उद्धार कर स्वरूप देखा जा सकता है।

वैखानस (वैष्णव) आगम में अग्नि-समाराधन अमूर्ताराधन के रूप में व्याख्यात है। समूर्ताराधन से उनका अभिप्राय है प्रतिमा का पूजन। वैखानस आगम को बीच की कड़ी माना जा सकता है। वैदिक और वैखानस विधि की तुलनात्मक समीक्षा "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" के एकादश खण्ड में वैखानस प्रकरण (पृ.१२-१३) में देखी जा सकती है। यहाँ (पृ.१२-१३,४२) त्रिविध, पंचविध और चतुर्विध अग्नि की आराधना, पद्धति वैखानस सिद्धान्त का अनुसरण करती हुई बताई गई है। चतुर्विध कुण्ड (पृ.४२), त्रिविधमण्डप (पृ.५२) जैसे विषय भी यहाँ देखे जा सकते हैं। सारनाथ से प्रकाशित "भारतीय तन्त्रशास्त्र" और हमारे प्रसिद्ध ग्रन्थ "तन्त्रागमीय धर्म दर्शन में भी ये सभी कुण्ड-मण्डप निर्माण स्थण्डिलार्चन जैसे विषय संक्षेप अथवा विस्तार से निरूपित हुए हैं। जिज्ञासु जनों को उन्हें वहीं देखना चाहिए। यहाँ कुछ विशेष विषयों की संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

अथर्ववेद के व्रात्यसूक्त (१५.५.२-१६) में शिव के भव, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, महादेव और ईशान नामों का उल्लेख मिलता है। शतपथब्राह्मण (१.७.३.८) में ये ही नाम कुण्ड अग्नि के बताये गये हैं। स्पष्ट है कि पहले चर्चा हो चुकी है। शतपथब्राह्मण (१.३.३.१७) में ही बताया गया है कि भूपति, भुवनपति और भूतानां पति, ये तीनों अग्नि ज्येष्ठ भ्राता हैं। बोधायन गृह्यसूत्र (३.३.१०) में इन नामों को विनायक के साथ जोड़ा गया है और वहीं विनायक को उग्र के साथ भीम भी कहा गया है। इस विवरण से विनायक, अग्नि और रुद्र की अभिन्नता स्थापित होती है। ऊपर के रुद्र के सात नामों के साथ यहाँ निर्दिष्ट भी को भी जोड़कर रुद्र-शिव के इन आठ नामों के आधार पर पौराणिक वाङ्मय में अष्टमूर्ति शिव को मान्यता मिली। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में पंच महाभूत, चन्द्र, सूर्य और यजमान के रूप में इन्हीं को नमन किया है और पुष्पदन्त ने महिम्नस्तव में अभिधानाष्टक के रूप में ऊपरनिर्दिष्ट आठ नामों को। ऊपर अग्नि के तीन ज्येष्ठ भ्राताओं की चर्चा की गई है। त्रिप्रवरी ब्राह्मण भोजन करते समय आपोशान के प्रसंग में इन तीनों को अन्न समर्पित करता है।

अब हमें केवल मण्डलों की चर्चा करता है। इनका संबन्ध अग्नि-समाराधन (अमूर्ताचित) की अपेक्षा प्रासाद (मन्दिर-समूर्तार्चन) से अधिक गहरा है। हम कह सकते हैं कि मण्डल प्रासाद का छोटा रूप है। "जैन धर्म और तान्त्रिक साधना" (पृ.३६५) में बताया गया है कि वैसे अन्य और मण्डल में बहुतअधिक अन्तर नहीं है, किन्तु जहाँ यन्त्र पूजा अथवा धारण के काम में आते हैं, वहाँ

मण्डल ध्यान के विषय होते हैं। यन्त्रों और मण्डलों का यह अधूरा परिचय है। वस्तुतः यन्त्र (चक्र) और मण्डल देवताओं गृह (निवास स्थान) पाने गये हैं, जेसे कि प्रासाद (मन्दिर)। इनमें मुश्य देवता के अतिरिक्त आवरण देवताओं की भी पूजा की जाती है। मण्डलों की रचना प्रासाद-निर्माण की पद्धति से तथा यन्त्रों की रचना चक्रों के नाम से भी जाना जाता है। मण्डलों के निर्माण की और उनमें विविध देवताओं की उपासना की पद्धति प्रधानत: वैष्णव, शैव और बौद्ध आगमों में मिलता है, जैसा कि ऊपर बताया गया है। जैन आगमों में भी इनका स्वरूप प्रदर्शित है। परवर्ती आगमों एवं तन्त्रों में यन्त्रमय चक्रों में देवताओं की उपासना के साथ विविध धारणीय यन्त्रों और अंक यन्त्रों का भी विवरण मिलता है (यन्त्रों के प्रसंग ने जैन तन्त्र बहुत समृद्ध लगते हैं।

तन्त्रालोक में– ''मण्डलं सारयुक्तं हि मण्डश्रुत्या शिवाद्वयम्'' (३७.२१)। मण्डल शब्द की यह व्युत्पत्ति दी गई है। जयरथ ने– ''मण्डलमिति मण्ड शिवाह्वयं सारं लातीत्यर्थ:'' (पृ.३९९) यह उनका अर्थ दिया है। बौद्ध तन्त्रों में भी ''मण्डलं सारमित्युक्तम्'' यही व्युत्पत्ति देखने को मिलती है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि प्रासाद में की जानेवाली समूर्ताराधन की पद्धति मण्डल में सार रूप में प्रस्तुत होती है। मण्डल और प्रासाद के विविध अंगों की पारिभाषिक नामावली (शोभा, उपशोभा आदि) एक समान है।

पांचरात्रिक आगम की संहिताओं और बौद्ध तन्त्रों में इनका अधिक विस्तार से वर्णन मिलता है। ''भारतीय तन्त्रशास्त्र'' में प्रकाशित डॉ. अशोक कुमार कालिया के पाँचरात्र दीक्षा संबन्धी निबन्ध में मण्डल-निर्माण की पद्धति का तथा चक्राब्जमण्डल और भद्रक-मण्डल का सचित्र विवरण (पृ.४४६-४५२) देखा जा सकता है। इसी ग्रन्थ में आगे डॉ. प्रभाकर आपटे के ''पौष्कर संहिता-मण्डलाकृति परिचय'' (पृ.४७७-४८१) शीर्षक निबन्ध में पौष्कर संहिता के आधार पर मण्डल-संबन्धी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सामग्री दी गई है।

दीक्षा के क्रम में पांचरात्रागम-ग्रन्थों में दीक्षा के आवश्यक तत्त्वमण्डल के निर्देश के प्रसंग में मण्डल-कल्पन तथा मण्डलार्चनविधि का भी स्पष्ट वर्णन मिलता है। प्राय: सभी पांचरात्रिक संहिता ग्रन्थों में यह विषय वर्णित है, पर जैसा कि ऊपर बताया गया, पौष्करसंहिता में इस विषय का अत्यन्त विस्तार से वर्णन मिलता है। सात्वतसंहिता के दशम परिच्छेद में मण्डल में, अग्नि तथा जल के मध्य में विभव देवताओं का बाह्य पूजन कैसे किया जाय? इस प्रश्न के उत्तर में मण्डल की रचना का प्रकार बताते हुए उसमें देवताओं के पूजनका क्रम बताया गया है।

बौद्ध तन्त्रों के दीक्षा के स्थान पर अभिषेक का विधान है। इस विषय को "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" के १९वें तन्त्रागम खण्ड में (पृ.४४४-४४६) देखा जा सकता है। यहाँ रजोमण्डल, पट्टमण्डल तथा विज्ञानमण्डल नामक मण्डलों की चर्चा है। देहमण्डल तथा ध्यानमण्डल का विधान केवल तीक्ष्ण बुद्धि के शिष्य तथा साधन-सम्पन्न आचार्य के लिए ही निर्दिष्ट है। मण्डल शब्द की ऊपर दी गई व्युत्पत्ति (पृ.४४६) पर यही देखी जा सकती हैं। बौद्ध तन्त्रों में देहमण्डल स्थित पीठों की भी चर्चा मिलती है (पृ.४४७-४८)।

तन्त्रालोक के ३१वें आह्निक में १६४ श्लोकों में (पृ.२२३-३०२) में विस्तार से मण्डल-लेखन का प्रकार, भेद आदि का निरूपण त्रिकसद्भाव, सिद्धतन्त्र, षडर्धहृदय, त्रिशिरोमत, त्रिककुल, पूर्वशास्त्र, देव्यायामल, त्रिशिरोभैरव, जैसे ग्रन्थों के प्रयाण से विवेचित है। यहाँ (३१.३६) मण्डलों के असंख्य भेद चर्चित हैं। जैन तन्त्रों में मण्डलों का विवेचन यन्त्रों के रूप में हुआ है। यन्त्रों को यहाँ मण्डल भी कहा गया है। इनके यहाँ रेखात्मक यन्त्र, वृत्तरूप, कमलाकृति और कलणकृतिके पञ्च विशेष महत्त्व रखते हैं। अंक यन्त्र बीजाक्षर-गर्म, मन्त्रास्थ, गर्भ आदि यन्त्रों का भी जैनाचार्यों नेवर्णन किया है। यन्त्र के लिए 'चक्र' भी प्रयोग भी यहाँ बहुत प्रचलित है। निर्वाण-कालिका, चक्रोद्धारविधि बृहद्यन्त्राराधन विधि जैसे ग्रन्थों की सहायता से ये सब विषय "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" के एकादश खण्ड (पृ.४६४-४७१) में देखे जा सकते हैं।

तन्त्रों के चतुर्विध पीठ विभाग की चर्चा हमने नित्याषेडशिकार्णव के उपोद्घात (पृ. ५६-५७) में तथा ऊपर उद्धृत तीन ग्रन्थों में भी विशेष रूप से की है। इनके नाम विद्यापीठ, मन्त्रपीठ, मुद्रापीठ और मण्डलपीठ हैं। मण्डलपीठ विभाग में उसीतरह विविध मण्डलों का स्वरूप विवेचित होना चाहिए, जैसे निष्पन्न योगवती नामक बौद्धतन्त्र-ग्रन्थ में ये विवेचित हैं।

समय के परिवर्तन के साथ परात्रीशिका जैसे कौलतन्त्रों (श्लो.१८) में कहा गया है कि मण्डलों का दर्शन किये बिना भी व्यक्ति दीक्षित होकर सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसिद्धि जैसे बौद्ध तन्त्रों (पृ.१५, पृ.१५४) में भी इसी पद्धति से बिना ही मण्डल में प्रविष्ट हुए दीक्षा का विधान है। वसन्ततिलक के रचयिता जालन्धर पीठ के सिद्ध कृष्णाचार्य ने मण्डल आदि के विधान को कृत्रिम वाला है। विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थों में इनको मातृमोदक कहा गया है। इन सबका प्रभाव यह हुआ कि मण्डल-प्रवेश का सिद्धान्त आवश्यक नहीं रह गया और परिणाम-स्वरूप अब मण्डलाराधन की विधि विलुप्त-सी हो गई है। कुछ गीने-चुने विद्वान्

ही अब मण्डल-रचना की विधि को जानते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में सर्वतोभद्र आदि मण्डलों के रूप में इसका प्रवेश अवश्य हो गया है। मण्डलों के स्थान पर आजकल चक्रों का अधिक उपयोग होने लगा है। शाक्ततन्त्रों में यह प्रवृत्ति अधिक व्यापक रूप में पनपी है।

पीठ और चक्र शब्द का प्रयोग मण्डल के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी हुआ है। उनकी यहाँ चर्चा नहीं की गई है, क्योंकि अग्नि-समाराधन की प्रक्रिया से उनका कोई सीधा संबन्ध नहीं है। अपने ग्रन्थों में इनकी भी हमने पर्याप्त चर्चा की है। उनके मण्डल-भिन्न स्वरूप को वहीं देखा जा सकता है। मण्डलों के विषय में अब इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रासाद का लघु स्वरूप मण्डल है और मण्डल का लघु स्वरूप चक्र। श्रीयन्त्र को यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ भी मुख्य देवता के अतिरिक्त आवरण देवताओं की आराधना होती है, जैसी कि मण्डलों में। कृष्णानन्द तर्क वागीश के ग्रन्थ तन्त्रसार में चक्रों और यन्त्रों का विस्तार देखा जा सकता है। रक्षाकवच के रूप में इनको कण्ठ, बाहु आदि में धारण करने का विधान होने से इनका स्वरूप संक्षिप्त कर दिया गया है। जैन तन्त्रों के अतिरिक्त शिवताण्डवतन्त्र जैसे तन्त्रों में अंकयन्त्रों का विधा प्रदर्शित है।

टिप्पणियाँ

१. श्री चक्र (यन्त्र) की रचना के भू, कूर्म (कमठ) और मेरु नामक तीन प्रस्तार शास्त्रों में वर्णित हैं। यहाँ कमठ शब्द का प्रयोग कुण्ठ केन ाम के रूप में हुआ है। वस्तुतः स्थण्डिल में इसका परिगणन किया जा सकता है।

२. पारमेश्वरागम (४.४३-४४) में कुण्ड की मेखलाओं के चारों तरफ पूजनीय ५३ देवताओं की नामावली दी गई है। सिद्धान्तसारावलि (४.२६-२८) में भी ५३ वास्तु देवताओं के नाम मिलते हैं। ये दोनों नामावलियाँ पूरी तरह से एक-दूसरे से भिन्न हैं।

३. "पालाशरवादिराश्वत्थशम्युदुम्रजा समित्। अपामार्गकदूर्वाश्च कुशश्चेत्यपरे विदुः।। (चन्द्रज्ञानागम, क्रियापाद ११.५०)। सात्वसंहिता के भाष्य (पृ.९९) में समिधाओं के अतिरिक्त पुष्प, धूप, मधुपर्क, बीज, चरु और घृत का भी समावेश इस प्रसंग में मिलता है।

४. चन्द्रज्ञानागम (पृ.१२४) पर दी गई टिप्पणियों में समिधा, पवित्र, वेद, इध्म और परिधि का स्वरूप प्रदर्शित है।

५. सिद्धान्तसारावलि में अक्षवाट शब्द प्रयुक्त है अक्षपाट नहीं। इस विषय की चर्चा टीकाकार ने विस्तार से की है (पृ.१३९-१४० देखिये)। नेत्रतन्त्र (३.४५) और

स्वच्छन्दतन्त्र (पृ.२.२०१) में भी यह विषय चर्चित है। यहाँ भी अक्षवाट शब्द ही प्रयुकत है, किन्तु कुण्डों के संस्कारों में इसकी गणना की गई है। टीकाकार क्षेमराज ने इस शब्द का अर्थ यवनिका (तिरस्करिणी शारी) किया है। सिद्धान्तसारावलि के टीकाकार ने बताया है कि यज्ञवाट मण्डप का संस्कार है, कुण्ड का नहीं।

६. चन्द्रज्ञानागम (१.११.४७-५७), मकुटागम (१.२.२४-३३), पारमेश्वरागम (४.१-४३) आदि का विवरण मिलता है। शिवाग्नि का यह स्वरूप शिवपुराण की प्रथम विद्येश्वरसंहिता (१८.६२-६७) में भी बताया गया है।

७. "व्याधारणं नाम एकस्यात् कोणात् कोणान्तरं प्रति आज्यधाराक्षारणम्। तच्च व्याधारणं पञ्चगृहीतेनाज्येन क्रियते" (१७.१२१) माध्यन्दिन संहिता के वेदार्थपारिजात-भाष्य में व्याधारण का यह लक्षण दिया गया है। व्याधारण और अभिधारण पर्यायवाची शब्द हैं। प्रस्तुत स्थल पर वक्त्राभिधारण की प्रक्रिया शिव के पाँच मुखों में इसी पद्धति से की जाती है। घृत के पाँच बार ग्रहण करने की सार्थकता शिव के पाँच मुखों के आधार पर मान्य होगी।

८. दीक्षा-संस्कार के अवसर पर गुरु शिष्य के पाशोंका छेदन करने केलिए उसके शरीर में प्रवेश करता हे। इस प्रक्रिया का वर्णन सिद्धान्तसारावलि (पृ.२२९) में किया गया है। नेत्रतन्त्र (२०.२८-२९) की व्याख्या करते समय क्षेमराज ने कल्लट की तत्त्वचिन्तामणि में प्रदर्शित गोलक-विधि का निरूपण (पृ.१९९) किया है। यहाँ बताया गया है कि इस विधि से शिष्य के पुर्यष्टक के साथ गुरु-पुर्यष्टक का अभेद स्थापित हो जाता है। सूक्ष्मागम के परिशिष्ट में संगृहीत पाठ (पृ.१५५) में गोलक-न्यास का विधान भी इसी प्रक्रिया से संबद्ध लगता है।

९. वागीशी के गर्भ से दीक्षित व्यक्ति के अन्तिम शरीर की उत्पत्ति की भी चर्चा सिद्धान्त सारावलि (पृ.२३१-३२) में की गई है। इससे एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त की पुष्टि होती है, क्योंकि वागीशी के गर्भ से उत्पन्न विद्याशरीर की उपलब्धि हो जाने के बाद उसे दूसरा शरीर धारण नहीं करना पड़ता। यही उसका अन्तिम जन्म (अपश्चिम शरीर) माना जाता है। 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' के सिद्धान्त की भी इसी पद्धति से व्याख्या की जा सकती है। दीक्षा के उपरान्त निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से जन्य दोषों की निवृत्ति अन्त्येष्टि-संस्कार के समय की जाती है। इसके साथ ही यहाँ बताया गया है कि अनजाने में किये गये दोषों की ही निवृत्ति इससे होगी। जान-बूझ किये गये दुष्कृत का तो फल भोगना ही पड़ेगा। ऐसा न मानने पर प्रायश्चित्त शास्त्र का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायगा। इस विषय की चर्चा सिद्धान्त सारावलि समयाचार पालन प्रकरण (पृ.७७-८२) में हो चुकी है।

१०. शैव तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक एवं उसकी जयरथ-कृत टीका के समान ही बौद्ध तन्त्रों में इसकी मान्यता है। 'धीः' के २२वें अंक में

प्रकाशित "काचक्रतन्त्र-विमलप्रभा समीक्षा" शीर्षक निबन्ध में हमने इन दोनों ग्रन्थों का विस्तृत परिचय दिया है। बौद्ध तन्त्र शास्त्र में वर्णित प्राय: सभी विष्ज्ञयों का यहाँ प्रतिपादन हुआ है, तो भी यह ध्यान देने की बात है कि तन्त्रालोक के छठे और सातवें आह्निक के प्रमुख विषय प्राणचार के प्रसंग में क्षण से लेकर महाकल्प पर्यन्त कालचक्र की कालोदय और चक्रोदय के रूप में जो आन्तर प्रक्रिया वर्णित है, वह विमलप्रभा में देखने को नहीं मिलती।

११. प्रस्तुत प्रवचन में अग्नि की सात जिह्वाओं के नाम विभिन्न तन्त्रों के आधार पर दिये गये हैं। अमरकोश (१.१.५६) की टीका और आपटे की डिक्शनरी में भी अग्निजिह्वा शब्द पर इनके नाम मिलते हैं। इन सबमें कोई समानता दृष्टि गोचर नहीं होती।

१२. यहाँ और आगे भी कुण्डों के नामों में थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है।

१३. दाहिने हाथ ही अंगुलियों को विशेष स्थिति में रखकर शुष्क द्रव्य या खीर आदि की आहु२ति दी जा सकती है। घृत की आहुति के लिए आजकल यज्ञीय वृक्षों के पत्र का चमस के रूप में उपयोग किया जाता है।

१४. यहाँ निर्दिष्ट चक्री मुद्रा को छोड़कर तथा भस्म और यज्ञोपवीत की अलग-अलग गणना कर मुद्राओं की संख्या कापालिक मत और बौद्धमत में भी छः मानी गई है। हेवज्रतन्त्र (१.३.१४) में चक्री को स्वीकार कर तथा भस्म और यज्ञोपवीत का परिहार कर पंचमुद्रा-पक्ष गृहीत है। स्पष्ट है कि विमलप्रभाकार पुण्डरीक ने उक्त मत को स्वीकार नहीं किया। 'धी:' का प्रथम अंक (पृ.१०३) भी देखिए।

१५. "वैतामास्त्वां वह्नय: पावयन्तु:" (४.७) कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलनाटक में श्रौत अग्नियों के लिए वैतान शब्द प्रयुक्त है।

१६. "भावयेन्नवजिह्वं तु" (३.७६) इस वचन की व्याख्या में क्षेमराज ने– "राज्यार्थ दाहजननी मृत्युदा शत्रुहारिका। वशीकर्त्रुच्चाटनी स्यादर्थदा मुक्तिदायिका। सर्वसिद्धिप्रदा" इस प्रकार अग्नि की नौ जिह्वाओं का परिचय दिया है। ग्रन्थ का नाम यहाँ उद्धृत नहीं है।

OOO

सूक्ष्मागमप्रतिपादित शिवलीलाओं का तात्त्विक विवेचन

•

डॉ. शिवानन्द शिवाचार्य स्वामीजी
हिरेमठ संस्थान, तुमकुरु

काशी श्री विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासन, जंगमवाडीमठ, वाराणसी के श्री लिंगैक्य जगद्गुरु 'विद्वद्विभूति' वीरभद्र शिवाचार्य महास्वामीजी के जन्मशताब्दी महोत्सव के उपलक्ष्य में आयोजित अखिल भारतीय वीरशैवागम संगोष्ठी में मैं सर्वप्रथम लिंगैक्य जगद्गुरु श्री वीरभद्र शिवाचार्य महास्वामीजी का विभुरूपी अव्यक्त सन्निधान को साष्टांग प्रणाम करता हूँ।

तत्पश्चात इस संगोष्ठी का सन्निधान डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी के दिव्यचरण कमलों को सादरपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभासम्पन्न विद्वद्गण, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' न्याय के अनुसार विद्वद्वरेण्य लिंगैक्य श्री वीरभद्र जगद्गुरु महाराज की जन्मशताब्दी के परमपावन पुण्य अवसर पर यहाँ जो 'विद्वत्-मंथन' हो रहा है यह एक संयोग की बात है। तस्य भासा श्री वीरभद्र जगद्गुरु महास्वामिपादानां भासा- सर्वमिदं विभाति' एवं अहंमन्ये – यह मेरा अभिमत है।

इस संगोष्ठी में मेरा वक्तव्य विषय है– 'सूक्ष्मागम प्रतिपादित शिवलीलाओं का तात्त्विक विवेचन'। विषय के प्रति आपका ध्यान आकर्षित करने से पहले मैं दो बातों को आपके सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ काम और राम को, राम और काम को शास्त्रीय रूप से अध्ययन किया गया है। भारत में राम अयोध्या का राजा भी है और दूसरी बात यह भी है कि वही राजा राम आध्यात्मिक सुख का, मोक्ष का सीढ़ी 'सोपान' भी बन जाता है।

इस भारतवर्ष में 'काम' न केवल एक दैहिक वासना या भूख है बल्कि वह एक 'शास्त्र' 'विज्ञान' भी है। भारत में काम एक Science भी है।

भारत शास्त्रप्रधान देश है– India is a more Scientific country than any other countries of the world. 'शस्त्रप्रधान' देशों के होड़ में भारत का स्थान कहाँ है यह हम नहीं जानते मगर जब 'शास्त्र' का विषय आता है तब भारत का स्थान जरूर 'Top' पर रहता है। हमारा यह भारत देश "शास्त्र और शास्त्रीय विषयों का जगद्गुरु" है। यह तो न अत्युक्ति है, न अतिशयोक्ति है, यह १००% वास्तव सत्य है। इस कारण से भारत को महानता का उपाधि मिल चुकी है। अतः हम सब भारतीय लोग गर्व से कहते हैं कि– "हमारा भारत महान्" है और 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दूस्ताँ हमारा" यह जो नारा है लोकप्रिय भी है और वास्तविक भी है।

जिज्ञासा और चिकित्सा भारतीय जनों के दो नेत्र हैं। इन्हीं दो आँखों के द्वारा वे हर एक विषय का 'आदिमूल' और 'आमूलाग्र' अध्ययन करते हैं।

वेद और आगम दोनों को भारतीय प्राचीन साहित्य का 'शिखर' माना गया है। भारतीय साहित्य में वेद और आगम इन दोनों का महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वेद और आगम भारतीय साहित्य सरस्वती का दो जुड़वा संतान Saini सयामि संतान Issues हैं।

वेद साहित्य को हम 'ऋषिमूल' साहित्य और आगम साहित्य को हम 'शिवमूल' साहित्य कह सकते हैं। इन दोनों साहित्य प्रकारों का 'उद्देश और उद्दिश्य' Purpose and Destination — एक ही है। वह मोक्ष है Total Liberation.

साहित्य के बारे में अपना वक्तव्य प्रस्तुत करते हुए महाकवि 'शिशुपालवध' में कहते हैं कि–

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता।।

परिमित स्वरों में गुम्फित गान की भांति ही परिमित वर्णों में गुम्फित वाङ्मय अतिशय विचित्र है।

"काव्यमीमांसा" में राजशेखर कहते हैं कि– 'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या' – शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव को बताने वाली विद्या साहित्यविद्या कहलाती है।

सच्चा साहित्य केवल एक प्रकार से सच्चा क्रान्तिकारी हो सकता है और वह प्रकार है समाज के समक्ष उसके सच्चे चित्र को व्यवस्थित कर समाज की आत्मचेतना को जगाने का प्रकार।

इस अवसर पर हमें याद आती है रामकृष्ण श्रीवास्तवजी का निम्नोक्त पद्य–

"जो कलम सरीखे टूट गये पर झूके नहीं
उनके आगे यह दुनिया शीश झुकाती है,
जो कलम किसी कीमत पर बेची नहीं गयी
वह तो मशाल की तरह उठाई जाती है।"

साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता है– जिस पुस्तक से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, जिससे मनुष्य का अज्ञान, कुसंस्कार और अविवेक दूर नहीं होता, जिससे मनुष्य शोषण और अत्याचार के विरुद्ध सिर उठाकर खड़ा नहीं हो जाता, जिससे वह छीना–झपटी, स्वार्थपरता और हिंसा के दलदल से उबर नहीं पाता वह पुस्तक किसी काम की नहीं है।

वेदागम साहित्य का लक्ष्य दैवत्व है। इस साहित्य को मोक्षमूल साहित्य नाम से जाना जाता है। विश्व के इतिहास में वेदागम साहित्य का स्थान प्राचीन और प्राचीनतर है। प्रतिभाशाली संशोधक मैक्समूलर के अभिमत में– In the history of the world, the Vedāgama Literature fills a gap which no literature or literary work in any other language could fill. विश्व के इतिहास में वेदागम साहित्य ऐसी रिक्तता की पूर्ती करता है जिसे किसी अन्य भाषा की कोई साहित्यिक कृति पूर्ण नहीं कर सकती।

वेदागम साहित्य के प्रति लोगों के मन में अपार और अटूट श्रद्धा है। इसी बात पर प्रकाश डालते हुए 'नारद पुराण' में कहा गया है–

वेदप्रणिहितो धर्मो वेदो नारायणः परः।
तत्राश्रद्धापरा ये तु तेषां दूरतरो हरिः।।

वेद साक्षात् परम नारायण हैं। वेद में जो अश्रद्धा रखते हैं उससे भगवान् बहुत दूर है। आगमों का मूल शिव हैं। शिवजी के मुखकमल द्वारा उत्पन्न आगम मानवों का रक्षणकरता है– "त्राणं च कुरुते पुंसाम्"। 'तन्त्रसमुच्चय' में आगमों के बारे में यह कहा गया है कि–

आगतं पञ्चवक्त्रात् तु गतं च गिरिजानने।
मतं च वासुदेवस्य तस्माद् आगममुच्यते।।

(१) आगतं गतं मतं चेति आगमम् (२) आसमन्तात् गमयति इति आगमः (३) आगमो नाम आमहेश्वरात् गुरुपारंपर्यागतं शास्त्रम् – इस प्रकार से 'आगम' शब्द का अक्षर निर्वचन किया गया है।

लोकोद्धार के लिये भगवान् शिव के सद्योजात् मुख से ऋग्वेद का, वामदेव मुख से यजुर्वेद का, अघोर मुख से सामवेद का, तत्पुरुष मुख से अथर्ववेद का और ईशान मुख से अट्ठाईस (२८) शैवागामों का आविर्भाव हुआ।

कामिक से वातुल पर्यन्त शैवागमों की संख्या अट्ठाईस है। प्रत्येक आगम ज्ञानपाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापाद नामक चार पादों से युक्त हैं। भारतीय सनातन धर्म-दर्शन के ये निगमागम मूल आधार है। इनमें उक्त धर्माचरण से ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। वेदों के अभिमत में-

आसमन्ताद् गमयति धर्माधर्मौ परं पदम्।
आगमस्तेन कथ्यत् इति वेदविदो विदुः।।

चित् बुद्धि के लिये धर्म, कायशुद्धि के लिये कर्म, प्राणशुद्धि के लिये योग, बौद्धिक विकास के लिये ज्ञान और विज्ञान यह सब आगमों में मिलता है। आगमों में बहुत कुछ नहीं है।

महाभारत के बारे में जैसा- यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेऽहास्ति न तत्र क्वचित् यहाँ जो है वह जिधर भी आपको मिलेगा यहाँ जो नहीं है वह किधर की आपको नहीं मिलेगा- कहा जाता है वैसा ही आगम के बारे में कहने से हर्ज नहीं है।

शिवागम शैव और वीरशैव संस्कृति का गंगोत्रि है। उसमें धर्मशास्त्र है, ज्ञान-विज्ञान है, दीक्षा-शिक्षा।

सूक्ष्मागम : (१) यह (१०) शिवागम (१८) रुद्रागमों में एक है।(२) यह एक शिवागम है। (३) सूक्ष्मागम का शिवागमों में सातवाँ स्थान है। (४) यह सूक्ष्मतन्त्र नाम से भी प्रसिद्ध है। (५)यह संवादरूपी है। (६) यह तो देवी पार्वती और परमेश्वर के संवाद के रूप में निबद्ध है।

कैलास शिखर पर आसीन भगवती पार्वती प्रश्न करती हैं और भगवान् शिव उनका समाधान करते हैं।

श्रीमत्कैलासशिखरे नानाद्रुमविराजिते।
नानापक्षिसमाकीर्णे नानामृगसमाकुले।।१।।

सिंहासने समासीनं ब्रह्मेन्द्रादिसुरैर्वृतम्।
प्रपच्छ पार्वती देवी शङ्करं लोकशङ्करम्।।६।।

(सूक्ष्मागम, क्रियापाद - १-६)

शिवजी कहते हैं कि- निगम, शास्त्र, पुराण, आगम तो अनेक हैं, किन्तु इनसे सम्यक् ज्ञान की जानकारी नहीं मिल पाती। इसलिये हम आपको परमार्थ वस्तु की जानकारी के लिये सूक्ष्मतन्त्र का उपदेश करते हैं-

अनन्ता निगमाः प्रोक्ताः शास्त्राणि विविधानि च।
अमितानि पुराणानि विरुद्धानि परस्परम्।।

आगमा बहुधा प्रोक्ताः समस्तार्थावबोधकाः।
एतैरन्योन्यभिन्नैश्च ज्ञानं यम्यङ् न जायते।।

तस्मात् सर्वार्थसंयुक्तं परमार्थावबोधकम्।
सूक्ष्मतन्त्रमहं वक्ष्ये शिवज्ञानैकसाधनम्।।
समाहितेन मनसा तन्त्रं गोप्यमिदं श्रुणु।।

(सूक्ष्मागम, क्रियापाद - ११ से १३)

पूर्णतया सूक्ष्मागम उपलब्ध नहीं है। केवल दस पटलवाला क्रियापाद ही उपलब्ध है। क्या है सूक्ष्मागम में? सूक्ष्मागम का दस पटलवाला क्रियापाद में प्रथम पटल में–पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति नामक पाँच शक्तियों का निरूपण करते हुए एक ही शक्ति कैसे पाँच स्वरूप धारण कर लेती है इसका विवरण देते हैं– निर्गुण शिव कैसे सगुण हो जाते हैं? सादाख्य तत्त्व की अभिव्यक्ति कैसी होती है?

एक ही शिवतत्त्व द्विविध, त्रिविध, पञ्चविध कैसे हो जाता है? शिव-सादाख्य, अमूर्तसादाख्य, मूर्तसादाख्य, कर्तृसादाख्य और कर्मसादाख्य नामक पाँच सादाख्य तत्त्वों का स्वरूप-विवरण दिया गया है और यहाँ सगुण सदाशिव को ही सादाख्य तत्त्व कहा गया है। इस पटल के अन्त में भगवान् शिव की २५ (पच्चीस) लीलाओं की नामावली देकर कहा गया है कि मुक्ति की कामना करने वाले व्यक्तियों को एकमात्र शिव का ही सदा ध्यान करना चाहिये।

द्वितीय पटल में पच्चीस शिवलीलाओं का निरूपण है। तृतीय पटल में मन्त्र का स्वरूप निरूपित है। चतुर्थ पटल में षडक्षर मन्त्र के रहस्य को स्पष्ट किया गया है। पञ्चम पटल में गुरु और शिष्य का स्वरूप प्रदर्शित है। षष्ठम पटल में इष्टलिंग पूजा का स्वरूप और क्रम पर प्रकाश डाला गया है। सप्तम पटल में वीरशैव के अतिरिक्त शैव भेद पर विशेष ध्यान दिया गया है। अष्टम पटल में लिङ्गाङ्गसंबन्ध विषयक प्रश्न और उसका समाधान है। नवम पटल में भक्तों के माहात्म्य का कथन है। दशम पटल में देवी पार्वती भगवान् शिव की स्तुति करती हैं।

सूक्ष्मागम के उत्तरभाग के क्रियापाद में प्रथम पटल के अन्त भाग में और द्वितीय पटल में पच्चीस शिवलीलाओं का जिक्र किया गया है।

परम परात्पर शिव सगुण भी है और वह निर्गुण भी है। निर्गुण तत्त्व का नाम शिव है और सगुण तत्त्व का नाम सदाशिव है। सदाशिव को ही सादाख्य तत्त्व भी कहते हैं। ध्यान-पूजा आदि उसी सादाख्य सगुण तत्त्व की की जाती है। शरीर में

रहने वाली आत्मा जैसा निर्गुण और देह सगुण कहा जाता है, उसी तरह शिव और सादाख्य तत्त्व है। परन्तु इन दोनों में कोई भेद नहीं है।

निर्गुणः शिव इत्युक्तः सगुणस्तु सदाशिवः।
सादाख्यश्च स एवोक्तो ध्यानपूजादिकारणम्।।

देही निर्गुण इत्युक्तो देहः सगुण उच्यते।
एवमेव विजानीयाद् द्वयोर्भेदो न विद्यते।।

(क्रियापाद, प्रथम पटल २९-३०)

सगुण शिवजी का गुण-लक्षणों के वर्णन करते हुए-

सर्वलक्षणसंयुक्तं चतुर्वर्गफलप्रदम्।
नानारूपधरं देवं विविधैर्लक्षणैर्युतम्।।

अनेकलीलानिलयं कल्पितस्थानवाहनम्।
नृत्तगीतविनोदाढ्यं देवदेवं महेश्वरम्।।

जटाजूटसमायुक्तं त्र्यम्बकं नीललोहितम्।
पद्मासनसमासीनं ध्यायेदेवं महेश्वरम्।।

(क्रियापाद - ४९-५१)

सभी लक्षणों से संयुक्त, धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष रूप चतुर्विध पुरुषार्थों को फल के रूप में देने वाले वह महादेव विविध लक्षणों से युक्त हैं।

शिवजी के द्वारा किये हुए पच्चीस लीलाओं से उनकी सृष्टि, स्थिति और सामर्थ्य का परिचय भलीभाँति हो जाती है। इन पच्चीस लीलाओं से शिवजी दृष्टि, स्थिति और संहार का चक्र चलाते हुए विहार करते हैं, रात दिन क्रीडा करते रहते हैं साधकगण यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आठ योग के अंगों से सदा शिवजी का ध्यान करते हैं। भवसागर को पार करने के लिये सगुण शिव का और लीलारूपी शिव का पूजन करना चाहिये। शिव से अधिक या बराबर कोई देवता नहीं हैं।

किमत्र बहुनोक्तेन स एव परमेश्वरः।
ततोऽधिकः तत्समो वा देवो नास्ति वरानने।।

(क्रियापाद ७०)

भगवान् शिव द्वितीय पटल में उपासना के लिये अधिक उपयोगी पच्चीस लीलाओं का निरूपण करते हैं और कहते हैं कि ब्रह्मा आदि समस्त देवता भगवान् की शक्तियों का विलास है। शिव से अधिक और समान कोई नहीं है। इसीलिये मुक्ति को चाहने

वाले अधिकतर लोग शिवजी की ही शरण में चले जाते हैं। विभिन्न शैव पुराणों में भगवान् शिवजी की लीलाओं का वर्णन मिलता है।

जिनके जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य में यह संगोष्ठी आयोजन किया गया ह वे महान् 'विद्वद्विभूति' काशी ज्ञानसिंहासन के ८४ जगद्गुरु श्री वीरभद्र शिवाचार्य महास्वामीजी ने की 'शिवपञ्चविंशतिलीलाशतकम्' की रचना किये गये हैं। उसमें वे विशदरूप से शिवलीलाओं का वर्णन किये हैं।

श्रुतिस्मृति पुराणागमेतिहास विपश्चिता।
रचिताः शिवलीलास्तु वीरभद्रशर्मणा।।

शिवजी की पच्चीस लिलाओं पर आपका ध्यान आकर्षित करके शिवजी का विराट् स्वरूप का संक्षेप में परिचय किया जायेगा–

(१) शशीचूड लीला, (२) उमाकान्त लीला, (३) वृषारूढ लीला, (४) ताण्डव लीला, (५) वैवाह लीला, (६) भिक्षाटन लीला, (७) कामसंहार लीला, (८) कालसंहार लीला, (९) त्रिपुरसंहार लीला, (१०) जलन्धरवध लीला, (११) ब्रह्मदर्पनिवारण लीला, (१२) वीरभद्रावतरण लीला, (१३) हरिध्वंस लीला, (१४) अर्धनारीश्वर लीला, (१५) किराताकारधारण लीला, (१६) कंकालधारण लीला, (१७) चण्डेशानुग्रह लीला, (१८) हरिध्वंस लीला, (१९) चक्रदान लीला, (२०) विघ्नेश्वरदान लीला, (२१) सोमास्कन्द लीला, (२२) एकपाद लीला, (२३) सुखावह लीला, (२४) दक्षिणामूर्ति लीला, (२५) लिंगोद्भव लीला।

आदौ तस्य स्वयं लीलाः पञ्चविंशतिभेदतः।
पञ्चविंशतिलीलाभिः देवदेवो क्रीडतेऽनिशम्।।
(क्रियापाद द्वि.प.५२-५८)

(१) शशिचूडलीला– भगवान् शिव शरणागत रक्षक है। जो भी उनके शरण में आता है भगवान् उसका रक्षण करते हैं। जैसे दक्षशापग्रस्त चन्द्रमाका रक्षण करके अपने सिर (ललाट) पर जगह देते हैं। शुद्ध प्रार्थना भगवान् को भी कम्पित और अनुकम्पित करती है। (२) उमाकान्त लीला– शिव और शक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है। 'उमया सहितः सोमः' इसलिये शिवजी को सोम नाम से भी पुकारते हैं। (३) वृषभरूढ लीला– धर्म को वाहनबनाने का संदेश देता हे। यहाँ भी शिवजी का शरणागत रक्षक स्वभाव पर प्रकाश डाला गया है। (४) ताण्डव लीला में भगवान् शंकर स्थावर-जंगम जगत् का संहार कर लम्बे समय तक नृत्यलीला करते रहते हैं। (५) तारकासुर वध के लिये कुमार का संभव होना जरूरी था। इसलिये शिव विवाह बन्धन में बंध जाते हैं। (६) काम का, काल का और

त्रिपुर का संहार करने के बाद शिवजी क्रमशः कामारि, कालारि, त्रिपुरारि नाम से जाना जाता है। शिव दारुण दैत्य जलन्धर का वध करते हैं। ब्रह्म का शिरश्छेदन करके दर्प का हरण करते हैं। वीरभद्रावतार में दक्ष प्रजापति का गर्वभंग करते हैं। पार्वती को आधा शरीर देते हैं।

शिव भक्त रक्षक हैं। वह शिष्टरक्षण और दुष्टमर्दन के नेता भी हैं और कर्तृ भी हैं। शिवतत्त्व जगदुद्धार में निरत है। शिव न केवल सर्वात्मक है किन्तु सर्वार्थसाधक भी है। यह विश्व ईशावास्य है। सिद्धान्त शिखामणि में यथाकथित– "यद्भासा भासते विश्वं, यत्सुखेनानुमोदते" शिवजी की कृपा से यह सब चराचर जगत् गतिशील होता है।

सूक्ष्मागम में वर्णित पञ्चविंशति शिवलीलायें परात्पर शिव का तात्त्विक रूप ही हैं। शिव लोकानुग्रह करने के लिये लीलारूप धारण करता है। अन्ततो गत्वा, सगुण से निर्गुण और सकल से निष्कल की तरफ प्रपञ्च से परमार्थ की तरफ ही बढ़ाना है। शिव का सगुण रूप लीला है। उसका निर्गुण रूप अनख निरञ्जन है। शास्त्रों में प्रतिपादित अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश रूप समस्त क्लेशों का शमन कर सुशोभित होने वाले तथा सत्त्व, रज और तम इन गुणों की गाँठ में गुंथे हुए अतएव दुर्भेद्य संसार के बन्धन का नाश करने वाला जो तत्त्व है वह शिवतत्त्व है।

तस्मात् सर्वात्मकं देवं महेशं मां विदुर्बुधाः।
अहमेव हि मन्तव्यो मन्त्रैः सर्वार्थसाधकैः।।

(क्रियापाद, द्वि.प. ६३)

"शिव एव केवलम्", "शिव एव कैवल्यम्" जो भक्त भगवान् शिवजी का सगुण उपासना करता है वह कहता है– शिव एव केवलम्।

जो मुमुक्षु शिवजी का निर्गुण उपासना करता है वह कहता है– शिव एव कैवल्यम्।

शिव केवल भी है वह कैवल्य भी है। इन्हीं बातों को बारंबार दुहराते हुए इस प्रतिभाशाली विद्वत् संसद से विराम लेता हूँ।

OOO

कारणागमोक्त वीरशैव धर्माचार मीमांसा

●

डॉ. सिद्धराम पण्डिताराध्य शिवाचार्य स्वामीजी, एम.ए., पी-एच.डी.
हिप्परगी-यड्डूर

सिद्धान्ताख्ये महान्तत्रे कामिकाद्ये शिवोदिते।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्।।

(सि.शि.म. ५.१४)

श्री सिद्धान्तशिखामणि में प्रतिपादित इस उक्ति के आधार पर ज्ञात होता है कि अट्ठाईस शिवागमों के उत्तरभाग में वीरशैव धर्म का सिद्धान्त सर्वप्रामि प्रतिपादित हुआ है। इन अट्ठाईस शिवागमों में कारणागम का चौथा स्थान है। यह आगम विद्वानों के द्वारा बहु सम्मानित है। इस आगम के पूर्वभाग में १४८ एवं उत्तर भाग में १०५ पटल हैं। इस विषय में विद्वानों में मतभेद भी है। कुछ विद्वान पूर्वभाग में १५० एवं उत्तर भाग में १०७ पटल मानते हैं। इनमें ख्रि.१९७४ में श्री डब्ल्यू वि काटिस (वाशिंगटन विश्वविद्यालय) के महोदय जी ने नित्यार्चन विधि नाम के ३१ पटलों को आंग्ल भाषा के अनुवाद के साथ प्रकाशन कराया है। इससे इस आगम की महत्ता को जान सकते हें। यह आगम विशाल होने पर भी इस आगम के उत्तर भाग के क्रियापाद के १० पटलों में ही वीरशैव धर्म के आचरणों की चर्चा विशेष रूप से मिलती है। इसलिए क्रियापाद के इन्हीं पटलों को काशीनाथ शास्त्रीजी तथा शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के द्वारा कारणागम के नाम से ही अलग से प्रकाशित हुआ है।

कारणागम के क्रियापाद के इन दश पटलों में वीरशैव धर्म के अनेक पहलुओं को अत्यन्त सशक्त रूप से दर्शाया गया है। शिवदीक्षा एवं उसके भेदोपभेद, आह्निकविधि, शिवपूजा पद्धति, नियमोपदेश तथा प्रायश्चित् विधि आदि अनेक विचारों का उपदेश इस आगम में मिलता है। इनमें से दूसरे, नवें और दसवें पटल में वीरशैव धर्माचार की मीमांसा विशेष रूप से मिलती है। मीमांसा का अर्थ विचार-विमर्श, चर्चा, संशोधन आदि है। भगवान शिव तथा माता पार्वती के संवाद रूप में प्रस्तुत इस आगम के इन्हीं तीन पटलों में वीरशैव धर्माचार से सम्बद्ध विचारों की चर्चा

विशेष रूप में उपलब्ध है। अन्य पटलों में प्रतिपादित विचार भी वीरशैव धर्म से सम्बद्ध ही है किन्तु उनमें केवल विचारों का प्रतिपादन मात्र है शङ्का-समाधान विचार-विमर्श आदि नहीं। अतः हम वीरशैव धर्माचारों की मीमांसा के रूप में निरूपित उन तीन (२, ९ तथा १० वें) पटलों को ही विशेषरूप से ध्यान में रख कर इस लेख को प्रस्तुत कर रहे हैं। अन्य पटलों में निरूपित विचार इसी शास्त्र संगोष्ठी में अन्यान्य निबन्धों में प्रतिपाद्य होने के कारण भी हम उन्हीं तीन पध्टलों पर प्रकाश डाल रहे हैं।

इन तीनों पटलों में भगवान शिव तथा माता पार्वती का संवाद साकार हो उठा है। कुछ प्रसगों में तो भगवती पार्वती की शंकाएँ तथा जिज्ञासाएँ न्यायालय (कोर्ट) में खड़े होकर वकालत कर रहे न्यायवादी वकील की याद दिलाती है। कभी-कभी माँ पार्वती ऐसे प्रश्न सामने रखती है कि, पढ़ने वालों को लगता है कि अब भगवान शिव भी इनका हल नहीं निकाल पायेंगे। लेकिन ज्ञान के अपार सागर भगवान् शिव उन् प्रसंगों में भी अत्यन्त तर्क संगत एवं युक्तियुक्त उत्तर देकर प्रसन्न कर देते हैं। इन्हीं रोकच प्रसंगों के द्वारा वीरशैव धर्माचार मीमांसा बहती है।

शिवदीक्षा का मोक्षसाधन मीमांसा

प्रथम पटल में भगवान् शिव शिवदीक्षा तथा उसके भेदोपभेदों का सक्रम उपदेश करने के बाद माता पार्वती द्वितीय अध्याय में उस विषय को लेकर शंका उठा कर चर्चा आरम्भ करती है। इस संदर्भ में भगवान् शिव कहते हैं कि-

अयि प्रोक्तं मया देवी सद्योमुक्तिप्रदं व्रतम्।
श्रृणु वेदेष्वनन्तेषु विस्तृतेष्वागमेषु च।।
नातः परतरं किञ्चिद्विद्यते मोक्षसाधनम्।।
(१.१३३)

यह जो शिवदीक्षा व्रत है, वह तुरन्त मुक्ति देने वाला है। अनन्त वेदों में तथा विस्तृत आगमों में भी इससे बढ़कर कोई दूसरा मोक्ष का साधन नहीं है।

भगवान् शिव की इसी बात को लेकर माता पार्वती शंका उठाती है। वह कहती है कि, हे देवाधिदेव महादेव! उपनिषदों में आप ही कह चुके हैं कि "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही कैवल्य की प्राप्ति होती है और अभी आप ही कह रहे हैं कि सारे वेद और आगमों में शिवदीक्षा से बढ़कर दूसरा मोक्ष साधन नहीं है। आप कृपा करके बताइये कि इन दोनों में कौन-सा स है। यदि मनुष्य को ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती, तब इस दीक्षा संस्कार का क्या प्रायोजन है? इस विषय में आप ठीक-ठीक उपदेश करिये।

इस शंका का समाधान करते हुए भगवान् शिव कहते हैं कि "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" मेरा यह कथन सत्य है, फिर भी दीक्षा के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। इस वृत के बिना ज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता।

अदीक्षासंस्कृते जन्तावपवित्रहृदाकुले।
उपदिष्टमपि ज्ञानं मरुवन्न प्ररोहति।।
लब्धं कथमपि ज्ञानं लिङ्गनिष्ठावर्जिते।
न फलाय भवत्येव यथा सस्यमरक्षितम्।।
(२.७-८)

शिवजी कहते हैं कि, जो व्यक्ति दीक्षा से संस्कृत नहीं है और जिसका हृदय अपवित्रता से आकुल है, उसको दिया गया ज्ञान भी मरुभूमि की तरह फलीभूत नहीं होता। इष्टलिङ्ग के प्रति निष्ठा से रहित व्यक्ति को किसी तरह ज्ञान प्राप्त भी हो जाए, तब भी वह ज्ञान उसी तरह फलवान नहीं होता, जिस प्रकार सुरक्षा के बिना खेती। इस विषय को और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शिवदीक्षा के बिना शिवज्ञान ही नहीं होता और ज्ञान के बिना मोक्ष। अतः यह दीक्षा को छोड़कर अन्य मार्गों द्वारा सैकड़ों-करोड़ों कल्पों में भी मुक्ति नहीं पा सकता है। अतः इसमें कोई संशय ही नहीं है कि दीक्षा मोक्ष प्रदान करती हैं।

इतना कहकर भगवान् शिव समझे होंगे कि इससे पार्वती की शंका का समाधान हुआ होगा। लेकिन पार्वती फिर से प्रश्न करती हैं– हे देव! आपने कहा कि दीक्षा ज्ञान के द्वारा मोक्ष देती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि, दीक्षा ज्ञान का साधन है। परन्तु यदि कोई दीक्षा प्राप्त व्यकित ज्ञान से रहित होकर राग-द्वेष में लिप्त हो गया तो उसे मुक्ति कैसे मिलेगी? यदि उसे भी मुक्ति मिल जाये तब ज्ञान की क्या आवश्यकता है? अगर उसे मुक्ति न मिले तो यह सिद्ध होगा कि यह दीक्षा मोक्षदायक नही है।

भगवती माता पार्वती के तर्कसंगत इस प्रशन के सन्तुष्ट होकर भगवान् शिव उसका उत्तर देते हैं–

अज्ञस्य कुटिलस्यापि शाम्भवव्रतसेविनः।
प्राणोत्क्रमणवेलायां वाराणस्यामिव ध्रुवम्।।
ज्ञानमावेदयिष्यामि मत्स्वरुपनिबोधकम्।
तेन वै मुच्यते जन्तुर्मत्प्रसादान्न संशयः।।
(२.१७-१८)

अज्ञानां या कुटिल भी यदि शिवदीक्षा को प्राप्त होकर शांभव व्रत का सेवन करता है, तब उसके प्राणत्याग के समय जैसे में वाराणसी में ज्ञान देता हूँ उसी प्रकार उस व्यक्ति को शिवस्वरूप का बो करने वाला ज्ञान प्रदान करता हूँ। इसी के द्वारा मेरी कृपा से निस्संशय प्राणी मुक्त हो जाता हे। भगवान् शिव यहाँ पर "काश्यां मरणान्मोक्षः" इस उक्ति के उदाहरण के द्वारा इस समस्या को सुलझाने की कोशिश कर रहे हें। कहते हैं कि अविमुक्त क्षेत्र तथा आनन्द कानन आदि नामों से प्रसिद्ध काशी मेंजो वास करते हैं, भले ही वह अज्ञानी कुकर्मी या पापी हो प्राण त्याग करते समय भगवान् उनके दक्षिण कर्ण (दाहिने कान) में ज्ञान का उपदेश कर उन्हें मोक्ष प्रदान करते हैं। इसी तरह दीक्षा प्राप्त व्यक्ति को भी उसके मृत्यु के समय शिवज्ञान का उपदेश देकर उन्हें भी मोक्ष प्रदान करते हें। इससे यह सिद्ध होता है कि काशी में रहने वाला व्यक्ति और दीक्षा प्राप्त व्यक्ति दोनों समान हैं।

इस संदर्भ में और भी शंका उत्पन्न होती है कि यदि शिवदीक्षा संस्कार प्रापत होने के बाद अचदे कर्म करनेवाले व्यक्ति के जैसे कुकर्मी व्यक्ति भी मोक्ष को पा लेता है, तब अच्छे कर्म करने का क्या प्रयोजन है? और अच्छे कर्म क्यों करें इस के समाधान के लिए शिवजी कहते हैं कि–

महापातकयुक्तोऽपि दीक्षितः सुचितामियात्।
दीक्षितः पातकी चेत् स्याद् गच्छेद् भैरवयातनाम्।।
स तथा भैरवीमुग्रां यातानामनुभूय च।
मदनुग्रहप्राप्तः स्यान्न पुनर्जन्मभाग्भवेत्।।
(२.२१-२२)

महापातक से युकत व्यक्ति भी यदि दीक्षा प्राप्त कर लेता है तो वह दीक्षा के बाद पवित्र हो जाता है और यदि दीक्षा संस्कार पाने के बाद भी पातक (पाप) करता है तब ऐसे व्यक्ति को भैरवयातना (कष्टपूर्ण भीषण यातना अविा भैरवद्वारा दी गयी यातना) झेलनी पड़ती हे। उस उग्र भैरवी यातना को भोगने के बाद व्यकित मेरे अनुग्रह का पात्र होकर जननमरणात्मक बन्धन से मुक्त हो जाता है। अर्थात् दीक्षा को प्राप्त करने के बाद जो व्यक्ति सत्कर्मों को करता है वह भैरवी यातना के बिना ही मुकत हो जाता है और जो व्यक्ति दुष्कर्मों में निरत होता है उसे भैरवी यातना को झेलने के बाद मुक्ति मिलती है। मुक्ति तो दोनों को मिलती है लेकिन अच्छे कर्म करते रहने से भयंकर यातना से खुद को बचा भी सकते हैं और मोक्ष को भी पा सकते हैं।

शिवदीक्षा में सभी वर्णों का अधिकारमीमांसा

इस विषय में भगवती पार्वती और एक शंका उठाती हुई पूछती है कि यह शिवदीक्षा ज्ञान में निष्ठा देती है दुनिया में देखा जाता है कि केवल यति (संन्यासी) के लिए ही ज्ञान में निष्ठा उचित होती है। ऐसी परिस्थिति में जो नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों में तत्पर चित् वाले होते हैं, जो अपने कुटुम्ब (परिवार) के भरण-पोषण के कार्य में ही सदा लगे रहते हैं ऐसे गृहस्थ ज्ञान निष्ठ को कैसे साधन में ला पायेंगे?

इसका उत्तर देते हुए भगवान् शिवजी कहते हैं कि-

मोक्षायाधिकृतो लोके यतिरेव कथं भवेत्।
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थो यतिस्तु वा।।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽथ वैश्यः शूद्रोऽन्त्यजोऽपिवा।
पुमान नार्यथवा क्लीवः सर्वे मोक्षाधिकारिणः।।

(२.३१-३२)

इस प्रपञ्च में केवल यति को ही मोक्ष का अधिकार हो, यह कहाँ का न्याय है? ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या यति और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्त्यज इसी प्रकार पुरुष, नारी या नपुंसक इन सभी को मोक्ष पाने का हक (अधिकार) है। दीक्षा से प्राप्त होने वाला शांभवव्रत दो प्रकार का होता है- वैदिक और तान्त्रिक। द्विजो अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए वैदिक व्रत बतलाया गया है और अन्य वर्णों के लिए तान्त्रिकव्रत कहा गया है। इस प्रकार वर्णभेद, आश्रमभेद, जातिभेद, वर्गभेद और लिङ्गभेद के बिना ही सभी को इस व्रत के आचरण करने में और उसके द्वारा मोक्ष को प्राप्त करने में अधिकार बताया गया है। अतः केवल यति को ही मोक्ष पाने का अधिकार है ऐसा मानना उचित नहीं है। गृहस्थ व्यक्ति शिवाराधन बुद्धि से नित्य नैमित्तिक आदि जो भी कर्म करता है वह ज्ञान का साधन होता है और गुरुलिङ्ग जंगमों की पूजा का जो भी साधन है वह उस व्यक्ति के साथ-साथ उसके कुटुम्ब के लोगों के लिए भी मोक्ष प्रदान करने वाला हो जाता है अर्थात् गृहस्थ के द्वारा किये गये लिङ्गार्चन आदि पुण्य कर्मों का फल न केवल उसको, अपितु उसके परिवारवालों को भी प्राप्त होता है। इस व्रत के आचरण करने वाले व्यक्ति के मन में यदि वैराग्य हो तो वह यति हो जाय और यदि वैराग्य न होने पर गृहस्थ बना रहे। यति होते हुए भी यदि मन में वैराग्य न हो तब वह अनन्त काल नरक में निवास करता है। स्त्री पुत्र आदि में अनुरक्त होते हुए अगर विरक्त नहीं भी हो तो वह उस तरह के जीवन यापन करता हुआ शिव के प्रति मन में निष्ठावान व्यक्ति भी मोक्ष पा लेता है। अतः इस व्रत के आचरण में एवं मोक्ष में सभी का अधिकार है।

शिवदीक्षा और नारी

माता पार्वती स्त्रियों के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा को प्रकट करती हुई प्रश्न करती है कि स्त्रियों को यह व्रत कैसे सम्भव है? क्या वह विवाह के बाद इस व्रत में प्रवेश करे अथवा विवाह के पूर्व? विवाह के पहले तो सम्भव नहीं है क्योंकि स्त्रियों को वैदिक कर्म करने का अधिकार विवाह के बाद ही प्राप्त होता है (वस्तुतः स्त्री को विवाह के पूर्व वैदिक कर्म का अधिकार नहीं है, यह बात प्रमुख शास्त्रिय ग्रन्थों में उल्लिखित नहीं मिलती। यह लोकाचार मात्र हो सकता है) अगन आप कहें कि, विवाह के बाद सम्भव है, तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि इस विषय में यह शंका उचित है कि, विवाह के बाद क्या वह स्त्री इस व्रत की दीक्षा अपने पति से ग्रहण करें अथवा किसी दूसरे से? जबकि दोनों सम्भव नहीं है। यदि विवाहित नारी अपने पति से दीक्षा ग्रहण कर लेती है तो, वह पति इसको दीक्षा देने के कारण वह अपनी पत्नी का गुरु बन जाता है तब गुरु पिता समान होने के कारण उन दोनों के बीच पति-पत्नी सम्बन्ध कैसा रह जायेगा? यदि किसी दूसरे से दीक्षा लें, तब वह दूसरे की पीछलगू (शेष) हो जायेगी। इसके अलावा और भी एक समस्या यह होगी कि दीक्षित विवाहित स्त्री को गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए या पति की आज्ञा पालन करना चाहिए? इतना ही नहीं विवाहित स्त्री निरन्तर घर के काम-काज में लगी होने के कारण उसे ज्ञान पाने के लिए समय कैसे मिलेगा? इष्टलिंग के प्रति निष्ठा रखने वाली स्त्री सांस आदि की सेवा, पति की सेवा और पुत्र आदि का पालन कैसे कर सकेगी? पति ही स्त्रियों का परम आराध्य होने के कारण वह अन्य देवताओं की उपासना कैसे करेगी?

इन सारी जिज्ञासाओं के उपशमन के लिए भगवान् शिव कहते हैं कि-

व्रतमावश्यकमिदं कथ्यते योषितामपि।
अनुष्ठेयं परस्ताद्वै नियतं पाणिपीडनात्।।
(२.५२)

स्त्रियों के लिए भी यह व्रत आवश्यक कहा गया है। विवाह के पश्चात् ही इसका अनुष्ठान करना चाहिए ब्राह्मणि स्त्रियों को पति से दीक्षा प्राप्त करना श्रेष्ठ है यदि पति दीक्षा देने में असमर्थ हो तब अन्य से दीक्षा ले सकती है। जो ब्राह्मणि नहीं है उसे पति द्वारा दीक्षा लेना उचित नहीं है, ब्राह्मण पति इस व्रत का उपदेश नहीं दे सकता है। पत्नी द्वारा पति एवं गुरु में गुरु की दृष्टि रखनी चाहिए। इसी प्रकार पति द्वारा पत्नी एवं गुरु में गुरु की दृष्टि रखनी चाहिए। अन्यथा वे दोनों इस व्रत से च्युत हो जाते हैं। चूँकि पत्नी को गुरु तथा पति इन दोनों की आज्ञा का पालन करना पडता है। अतः स्त्री को दूसरे को गुरु मानने में भी कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। गुरु से

उपदेश प्राप्त करने पर स्त्री अन्य की पिछलग्गू (शेष) नहीं मानी जायेगी। पति को छोड़कर किसी अन्य के द्वारा भोगी जाने पर ही वह दूसरे की पिछलग्गू कही जायेगी। अपने पति को गुरु बनाने पर भी स्त्री को दोष नहीं होगा क्योंकि पति गुरु होने पर वह पिता समान होना गौण है मुख्य नहीं। प्रसवश्यात् स्त्री का अपने पति के प्रति ही माता, पिता, देव, आदि का उपचार होता है। जेसे निम्न श्लोक में कहा गया है–

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी
भोज्युषु माता शयनेषु रम्भा।
धर्मानुवूला क्षमया धरित्री
पड्गुण्यभार्या वुलमुद्धरन्ति।।

इतना कहने मात्र से पति-पत्नी का सम्बन्ध जैसे बाधित नहीं होता। स्वर्ग के लिए उपयुक्त कार्य में स्त्री को संकल्प करने का अधिकार भले ही न हो, पर मोक्ष के लिए उपयुक्त कार्य में तो उसका अधिकार भले ही न हो, पर मोक्ष के लिए उपयुक्त कार्य में तो उसका अधिकार भले ही न हो, पर मोक्ष के लिए उपयुक्त कार्य में तो उसका अधिकार है ही। अत: उस अधिकार को रोका नहीं जा सकता। नारी या नर होना केवल इस जन्म की बात है। यह आत्मा न स्त्री है न पुरुष है और न ही नपुंसक है जिस-जिस शरीर को यह धारण करती आत्मा उस-उस में लिप्त हो जाती है। (श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कही गयी है) नारी होना इस जन्म की बात है, पत्नी बनना भी इसी प्रकार कल्पित है। इन (नारीत्व, पत्नीत्व आदि) कल्पित बातों के आधार पर मोक्ष मार्ग के अधिकार का निर्णय करना कैसा उचित होगा? अत: दीक्षा और मोक्ष दोनों में स्त्री का अधिकार है।

पति जैसा भी हो उसी को देवता मानकर चलने मात्र से वह पति इसे मोक्ष नहीं दिला सकेगा। इसलिए भगवान् शिवजी कहते हैं–

ससंरन् भवकान्तारे निमज्जन् दु:खवारिधौ।
अतीर्णस्तु स्वयं मूर्खस्तारयेत् स कथं सतीम्।।
तस्मादवश्यं नारीणामनुष्ठेयं व्रतं भवेत्।।
(२.६६)

जन्म करणों के जंगल कमें घूमता हुआ, दु:ख सागर में दु:ख सागर में डूबा हुआ मूर्ख व्यक्ति खुद ही भवबन्धन का पार नहीं कर पाता है तो अपनी पत्नी को केसे पार कर पायेगा। अत: स्त्री को चाहिए कि इस व्रत को स्वयं अनुष्ठान करें। इसके अलावा अगर पति दीक्षित हो तो उसकी पत्नी को भी दीक्षित होना आवश्यक है। क्योंकि जो नारी दिक्षा से संस्कृत नहीं है वह अपने दिक्षीत पति को सेवा करने के

योग्य नहीं होती और अदीक्षित नारी के द्वारा बनाया गया भोजन शिव को निवेदित करने के योग्य नहीं होता। अतः सती स्त्री को दीक्षा देनी चाहिए। ऐसी स्त्री इष्टलिंग में निष्ठा रखकर घर के काम काज भी कर सकती है। जैसे बच्चेवाली स्त्री बनाने का काम-काज भी करती है मगर उसका लक्ष्य बच्चे पर ही लगा रहता है, ऐसे ही विवाहित स्त्री इष्टलिंग में निष्ठा रखकर पति की परिचर्या, सांस की देखभाल और पुत्र का पालन आदि घर के काम काज भी कर सकती है। ऐसे करने से उसका व्रत भी बाधित नहीं होता है और घर के काम काज भी।

इस विषय में पार्वती और एक जिज्ञासा प्रकट करती हुई कहती है कि, मासिक घर्म के समय और बालक के प्रसव के समय नारी सूकत युक्त हो जाने कारणर वह इष्टलिंग का स्पर्श और पूजन आदि कैसे करें?

इसका उत्तर देते हुए शिवजी कहते हैं कि– दीक्षा द्वारा उसका शरीर पवित्र हो जाने के कारण वह कभी अपवित्र नहीं होती। अतः मासिक धर्म आदि के काल में भी प्रयत्नपूर्वक पूजा करनी चाहिए। अगर प्रसव आदि कष्ट काल में पूजा नहीं कर सके तो उससे दोष नहीं लगता। यही बात सिद्धान्त शिखामणि में भी कहा गया है–

लिंगार्चनरतायाश्च ऋतौ नार्या न सूतकम्।
तथा प्रसूतिकायाश्च सूतकं नैव विद्यते।।
गृहे यस्मिन् प्रसूता स्त्री सूतकं नात्र विद्यते।
शिवपादाम्बु संस्पर्शात् सर्वपापं प्रणश्यति।।
(सि.शि.म. ९.४४-४५)

अतः इस प्रकार स्त्री भी पुरुष के समान ही दीक्षा को पाकर लिंग पूजा आदि धार्मिक आचरणों को करती हुई शिवानुग्रह पात्र होकर संसार बन्धन से मुक्त हो सकती है।

दीक्षित व्यक्ति के नियमों की मीमांसा

दीक्षितों के नियमों के विषय में माता पार्वती की जिज्ञासा के उत्तर में भगवान् शिव कहते हैं कि पत्र, पुष्प, बत्तियाँ, जप इनको सदा निश्चित संख्या के अनुसार करना चाहिए। दीक्षा संस्कार से रहित लोगों द्वारा छूए जल आदि वस्तुओं का शिवार्पण आदि कर्मों में उपयोग नहीं करना चाहिए। पूजा के समय दीक्षा संस्कार से रहित लोगों की ओर नहीं देखना चाहिए, पूजा के अलावा दूसरों के बारे में नहीं सोचना चाहिए, और दूसरों से बातचीत नहीं करनी चाहिए। शरीर पर लिङ्ग, ललाट पंर भस्म, गले में रुद्राक्ष वाणि में शिव का नाम इनको कभी नहीं छोड़ना चाहिए। वस्त्र, आभूषण, पुष्प, अन्न, पान और औषध आदि वस्तुओं को शिव को समर्पित

किये बिना, मृत्यु होने पर भी सेवन नहीं करना चाहिए। जो दूसरों को निवेदित किया गया उसे शिव (लिंग) को समर्पित नहीं करना चाहिए और इष्टलिंग को समर्पित वस्तुओं को दूसरों को अर्पण नहीं करना चाहिए।

इन नियमों को सुनने के बाद माता पार्वती के मन में संदेह आता है और वह पूछती है कि यदि दूसरे को समर्पित वस्तुओं को शिव को समर्पित नहीं करना चाहिए, तब स्त्रियों से यह कैसे संभव हो सकती क्योंकि धर्मशास्त्र में कहा गया है कि पत्नी प्रतिनित्य पति का उच्छिष्ट भोजन करें। अत: उस पीत का उच्छिष्ट अन्न को शिव को कैसे समर्पित करना उचित होगा? बिना समर्पित किये भी नहीं ले सकती, क्योंकि आपने ही कहा है कि बिना शिव को समर्पित किए कुछ नहीं खाना चाहिए। इतना ही नहीं वह अन्न पति के द्वारा अपने इष्टलिंग को पहले ही समर्पित कर रखा है, फिर कैसे इसका नैवेद्य लगाया जायेगा? अथवा बिना समर्पित किये ही पत्नी इसको कैसे ग्रहण कर सकेगी?

इस उत्तर में शिवजी कहते हैं–

निवेदनेविशेषोऽस्ति वक्ष्याम्यवहिता भव।
लिङ्गभोगस्वरूपं चानुज्ञारुपमिति द्विधा।।
भर्तृशेषादिरुपस्य प्रसादस्य गुरोर्मम।
तीर्थस्य चार्पणं प्रोक्तमनुज्ञारुपमेव हि।।
(९.१२-१३)

निवेदन (अर्पण) दो प्रकार का होता है– लिंगभोगरूप निवेदन तथा अनुज्ञारूप निवेदन। पदार्थ को भगवान् के सम्मुख लाकर हे भगवान् इस पदार्थ को तुम्हारे भोग के लिए मैं अर्पण कर रहा हूँ, इस भाव से भगवान् को नैविद्य करना भोगरूप निवेदन है। पदार्थ को भगवान् के सम्मुख रखकर हे भगवान् इसे मैं अपने भोग केलिए उपयोग कर रहा हूँ इसके लिए आप की आज्ञा और आपका अनुग्रह चाहिए, इस भाव से नैवेद्य करना अनुज्ञारूप निवेदन है। पति का शेषान्न और गुरु एवं शिव के तीर्थ को अर्पण करते समय अनुज्ञारूप नैवेद्य करना चाहिए। सभी को अपने कर्मों के अनुसार इष्ट और अनिष्ट भोग मिलते हैं इनमें से इष्ट को भोगरूप में और अनिष्ट को अनुज्ञारूप में शिव के प्रति निवेदन करना चाहिए। अश्लील धर्मों को भी अनुज्ञारूप में ही अर्पण करना चाहिए। अत: शिव के प्रति भक्ति से युक्त पत्नी शिवपूजा करके नवीन पदार्थ को ही भोगरूप में निवेदन करें और पति से छूटे शेषान्न को अनुज्ञारूप में निवेदन कर दोनों का भोजन करें। जिस प्रकार भगवान् (लिङ्ग) को अर्पण किंये बिना

किसी पदार्थ का उपभोग नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार शिव को अर्पित पदार्थ का त्याग भी नहीं कर सकते हैं। जो शिव के प्रसाद का परित्याग करता है उसको शिव की कृपा प्राप्त नहीं हो सकती।

इस पर पार्वती पूछती है– यदि अर्पित पदार्थ अपरित्याज्य है तब अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जायेगी, पति अपनी पत्नी को और गुरु अपने शिष्यों को प्रसाद कैसे दे पायेंगे? याचकों और पितरों को जल कैसे दिया जायेगा? कुल्ले के लिए और हाथ दोने के लिए जल उपयोग कैसे होगा? कुल्ला आदि करने में प्रसाद का परित्याग सम्भव है और प्रसाद पवित्र होने के कारण प्रसाद रुप उस जल से मुख शुद्धि कैसे हो पायेगी? अनर्पित जल से कुल्ला कैसे किया जायेगा? यदि समर्पित जल से कुल्ला किया जाय तब प्रसाद परित्याग का दोष होगा। अतः इस विषय में बड़ी समस्याएँ है।

इन प्रश्नों का भगवान् शिव इस प्रकार उत्तर देते हैं– पति अपनी पत्नी को और गुरु अपने शिष्यों को प्रसाद देने से तथा नरकस्थित पितरों को जल को जल देने प्रसाद (शिव को समर्पित वस्तु) के परित्याग का दोष नहीं होता। जो त्याग विधि मूलक नहीं है वह निषेध का विषय होता है पर जहाँ त्याग की विधि ही कही गयी है वहाँ त्याग में कोई दोष नहीं है, बल्कि गुण ही है। अतः कुल्ला, मुख शुद्धि आदि कार्यों के सन्दर्भ में उपयोग किये जाने वाले जल से उन कार्यों को करने से कोई दोष नहीं होता। यद्यपि शिव का प्रसाद अत्यन्त पवित्र होता है पर मुख शुद्धि की विधि होने के कारण उस सन्दर्भ में जल का त्याग करने के अलावा दूसरा रास्ता नहीं है। यह विधि मलूक होने के कारण दोष युक्त भी नहीं है। उत्तर के रूप में इनता कहकर फिर बोलते है कि–

मदर्चनपरो नित्यं मद्ध्यानाधीनचेतनः।
मन्नामचिन्तनोद्युक्तो नान्यदेवादिकं स्मरेत्।।
(५.३१)

शिव की पूजा करने वाले, शिव की ध्यान आदि में निरत और शिवनाम चिन्तन करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह सम्पूर्ण शिव में ही लगे रहे और अन्य देवता आदि का स्मरण न करें।

इस विषय में अपनी शङ्का प्रस्तुत करती हुई पर्वती कहती है कि– वर्णाश्रमों में विष्ठा रखने वाले व्यक्तियों को नित्य नैमित्तिक आदि कर्म करते समय अनि आदि, शिवेतर देवताओं की भी पूजा करनी पड़ती है। ऐसे सन्दर्भ में वे शिवेतर देवताओं की पूजा करें या न करें?

इस पर भगवान् शिवजी कहते हैं– जैसे राजा में परम निष्ठा रखने वाला राजा का सेवक उसी की आज्ञा के वशीभूत होकर मन्त्रि आदि की भी आज्ञा का पालन करता है। इसी प्रकार शिव के प्रति निष्ठा रखने वाला भक्त शिव जी आज्ञा भूत श्रुति के कहने पर नित्य नैमित्तिक आदि कर्म करते समय अन्य देवों की सेवा करता है वैसे इस शिव भक्त का यह कार्य भी दोष पूर्ण नहीं होता।

दीक्षित व्यक्ति (वीरशैव) का प्रायश्चित कर्म मीमांसा

कारणागम के दशवें पटल में वीरशैवों के प्रायश्चित कर्मों की चर्चा आती है। प्रायश्चित विधि के विषय में पार्वती की जिज्ञासा पर शिवजी इसका उपेदश देते हैं। लिंग सर्वदा शुद्ध होता है और शरीर सर्वदा अशुद्ध होता है अतः षडध्वशुद्धि के द्वारा इस शरीर को शुद्ध बनाकर के उसमें इष्टलिंग को प्रतिष्ठित किया जाता है। इसी के कारण सभी अवस्थाओं में भी शारीरिक दोषोंसे यह इष्टलिंग अपवित्र नहीं होता। दीक्षा संस्कार रहित अपवित्र व्यक्ति शरीरवालों से शिवलिंग का स्पर्श नहीं होना चाहिए। अदीक्षित व्यक्ति को शिव प्रतिष्ठा करने का अधिकार नहीं है। यह प्रतिज्ञा है कि दीक्षित लोग ही प्रतिष्ठा करें, अन्यथा राष्ट्र का नाश होता है। अतः अदीक्षित लोग व्यक्तियों से प्रतिष्ठा नही करनी चाहिए। दीक्षा संस्कार से सम्पन्न व्यक्ति का देह सुसंस्कृत होने के कारण इष्टलिंग के साथ सदा सम्पर्क होने कारण और वही व्यक्ति लोगों द्वारा पूजित होने के कारण दीक्षित व्यक्ति ही लिङ्ग प्रतिष्ठा करने का अधिकारी होता है। शिव दीक्षा से पवित्र हुआ साधक पवित्र इष्टलिंग का सभी अवस्थाओं में स्पर्श करते हुए भी दोषयुक्त नहीं होते, लेकिन अदीक्षित व्यक्ति का स्पर्श होने पर निश्चय ही दोष युक्त हो जाता है। ऐसे सन्दर्भ में लिङ्ग का संस्कार करना ही पड़ता है।

इन प्रायश्चित विधि के विचारों में शंका उठाती हुई भगवती पार्वती पूछती है कि रात के नीन्द में व्यक्ति करवटें बदलता है, उस समय यदि इष्टलिंग नीचे की ओर आ जाता है तब जो दोष होता है उसका निवारण कैसे होगा?

भगवान् शिव उदाहरण के साथ इसका उत्तर देते हैं– यदि पति को स्त्री के हाथ पैर आदि स्पर्श हो जाने से जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं वे सभी प्रातः उठकर पति के पैर छूने से जैसे निवारण हो जाते हैं वैसे ही उषा काल में नीन्द से जागने के बाद इष्टलिंग को आँखों में लगाकर प्रणाम करने से रात के उस प्रकार के सभी दोषों का निवारण हो जाता है।

पार्वती फिर पूछती है– दीक्षित व्यक्ति इस लोक में व्यवहार करते समय अदीक्षित व्यक्तियों के साथ स्पर्श होने की सम्भावना निश्चय ही बनी रहती है। क्षौर

कर्म आदि में मजबूरन नाई का स्पर्श करना पड़ता है। इसी प्रकार हीनवर्ण वालों स्वपच तथा चांडालों के साथ कभी लिंगधारि का स्पर्श हो जाता है। इन सबसे जो दोष उत्पन्न होते हैं उनके निवारण के लिए क्या करें।

भगवान् शिव जी बोलते हैं– क्षौर आदि सन्दर्भ में इष्टलिंग खोपडी (सिर) से स्पर्श न हो पाये वैसा प्रयत्न करना चाहिए। इसके अलावा दूसरा एक उपाय भी है लिंगधारि का नाई से स्पर्श हो जाने पर शिवसूत्र को बदलकर नई धारण करें और पंचाक्षरी तथा गायत्री मन्त्र का ऐो आठ बार जप करें। यदि इष्टलिंग का ही नाई से स्पर्श हो जाय तब पवमान आदि सूक्तों को तथा श्रीरुद्रमन्त्रों को पढ़कर इष्टलिंग का प्रक्षालन करे। चंडाल आदि लोगों द्वारा स्पर्श होने पर शिवसूत्र का त्याग कर पवमान आदि सूक्त पढ़ते हुए प्रक्षालन करके (१००८) एक हजार आठ बार गायत्री तथा मूल मन्त्र का जप करे और केवल रात्रि में भोजन करे। अदीक्षित व्यक्ति भले ही सवर्ण हो या असवर्ण यदि उसका स्पर्श हो जाय तब उस दोष की शांति के लिए मूल मन्त्र का (१०८) एक सौ बार जप करे।

देवी पार्वती पूंछती हैं कि यदि पूजा के नियमित समय में व्यतिक्रम (बदलाव) हो जाय, आपात्काल के सन्दर्भ में पूजा और जप न कर सकें और निश्चित संख्या में पत्र-पुष्प आदि का अर्पण न कर सकें तब इन दोषों की शांति के लिए क्या उपाय है?

इसके उपाय बताते हुए शिवज कहते हैं– पूजा काल में व्यतिक्रम के दोष के निवारण के लिए मूलग्रन्थ का (१०८) एक सौ आठ बार जप करे। पूजा और जप न कर सकने पर मूलमन्त्र का १००० बार जप करना चाहिए। निश्चित संख्या में पत्र, पुष्प आदि का अर्पण नहीं कर सकने पर प्रतयेक कमी के लिए मूल मन्त्र का १०८ बार जप करे।

माता पार्वती पूछती हैं कि यदि असावधानी से इष्टलिंग हाथ से छूटकर नीचे गिर जाय तब कैसा प्रायश्चित करना चाहिए?

इस पर भगवान् शिव कहते हैं कि इष्टलिंग हाथ से नीचे गिर पडे तो उसको लेकर १०८ बार मूल मन्त्र का जप करें।

पार्वती फिर पूछती हैं कि गुरु प्रदत्त इष्टलिंग टूट जाय तो क्या करना चाहिए?

इस पर भगवान् शिवजी कहते हैं कि यदि इष्टलिंग दो या तीन टुकड़ों में टूट गया हो तब सर्ज (सर्ज का रस राल कहलाता है) के रस से उन टुकड़ों को जोड़कर तत्त्वकला (वीरशैवाचार प्रदीपिका, पृष्ठ ४१-४२ में इसका विस्तृत विवरण उल्लेख है) का न्यास करने के बाद सामान्य पूजन करें। यदि इष्टलिंग चूर-चूर हो गया हो

तब दूसरे एक नये लिंग में उस इष्टलिंग की कलाओं को आरोपित करके पुनः गुरु के हाथ से लेकर उसे धारण करें।

लोकहित में ही सदा कंकणबद्ध पार्वती फिर पूछती हैं कि यदि दीक्षा में प्राप्त लिंग कहीं खो जाए तब क्या करना चाहिए?

इस प्रश्न पर शिव जी कहते हैं जब इष्टलिंग खो जाए और वापस नहीं मिले तब भक्तियोग से प्राणों का तग्या कर देना चाहिए। यदि तक्षण प्राणत्याग न कर पाए तब इक्कीस दिनों तक मूल मन्त्र का जप करता हुआ निराहार (उपवास) रह कर लोगों द्वारा उसकी खोज करवाए। इस समय इष्टलिंग मितले ही उसे भक्तिपूर्वक धारण करके गुरु तथा माहेश्वरों का यथा शक्ति पूजन करे। अगर खोज करवाने पर भी इष्टलिंग न मिले तो भक्तियोग के द्वारा प्राणों को त्याग देना चाहिए। यदि प्राणत्याग न कर सके तब गुरु के हाथ से दूसरा लिंग को लेना चाहिए। ऐसे सन्दर्भ में गुरु उस लिंग में पहले वाले इष्टलिंग की कलाओं को आवाहन कर षडध्व कला न्यास से संस्कार करके ही प्रदान करे। ऐसे लिंग को सावधानपूर्वक गुरु के हाथ से लेकर धारण कर लें।

माता पार्वती इस पर फिर शंका उठाती है कि नये लिंग को धारण करने के बाद यदि खोया हुआ पहले वाला लिंग मिल जाए, तब क्या करना चाहिए?

तब भगवान कहते हैं कि पहले वाले लिंग मिल जाने पर भी धारण किये गये नये लिंग का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि पुराने लिंग की सारी कलाओं को पहले ही नये लिंग में संयोजन किया गया है, अतः उस पुराने लिंग को गुरु को दिखाकर उनकी आज्ञा लेकर जल में छोड़ दें।

इस सन्दर्भ में माता पार्वती और एक प्रश्न को प्रस्तुत करती है कि जब कोई व्यक्ति लिंग के खो जाने पर प्राण त्याग करता है तो उसके पार्थिव शरीर का संस्कार कैसे करना चाहिए, क्योंकि ऐसा नियम है कि लिंग से रहित शरीर का सुंस्कार नहीं करना चाहिए। यदि अन्य लिंग का धारण करना है, तब प्राण त्याग निरर्थक है। यदि धारण नहीं किया है तब उसका शरीर संस्कार योग्य नहीं होता। लिंग के नाश हो जाने वाले प्राणि के बारे में दोनों स्थितियों में दोष दिखाई देते हैं। अतः क्या करना उचित होगा?

इस शंका को दूर करते हुए शिवजी कहते हैं– लिंग के नष्ट हो जोन पर प्राण त्याग करने वाले व्यक्ति को उसी क्षण मोक्ष मिल जाता है। अतः उसका प्राण त्याग निरर्थक नहीं है। अब रहा सवाल उस शरीर के संस्कार का। वह इस प्रकार है की खोए लिंग की कलाओं के न्यास से युक्त दूसरे नये लिंग को मृत शरीर के निमित्य शरीर में नया लिंग योजित होने पर भी कोई दोष नहीं है। इन सबसे अच्छा यही है कि इष्टलिंग

कोस सदा अपने देह में अपने प्राण की तरह धारण करें। लिंग खो जाने से प्राण त्याग करना चाहिए, यह नियम भी, लिंग को कभी नहीं खाना चाहिए इस बात को समझाने के उद्देश्य से ही है।

इस प्रकार कारणागम में वीरशैव धर्म में शिवदीक्षा कैसे मोक्ष साधन होती है, शिवदीक्षा में सभी वर्णों का अधिकार किस प्रकार है, दीक्षा प्राप्त नारी का आचरण कैसा रहता है, दीक्षित व्यक्तियों के नियम क्या है, वीरशैवों की प्रायश्चित विधि कैसी है आदि अनेक विचारों का उल्लेख मिलता है। यहाँ पर उन्हीं विचारों को यथा मति प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

वीरशैवागमोक्त आह्निकविधिः शिवपूजापद्धतिश्च

•

को. रम्. बसवराजुः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वम्। ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्मनिराकुर्यां। मा मा ब्रह्मनिराकरोत्। अनिराकरणमस्त्वनिराकरणमस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु आगमेषु च धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

बिन्दुनादकलारूपमूर्तयेशुभकीर्तये ।
सच्चिदानन्दरूपाय नमो लिङ्गाय शम्भवे।।

आह्निकविधिः

श्रीमद्गुरुचरेन्द्राणां स्मृत्वापादद्वयं शिवम्।
श्रीवीरशैवागमोक्तः कथ्यतेत्वाह्निकविधिः।।

वीरशैवानामं आह्निकविधिः शिवपूजापद्धतिश्च वीरशैवागमपुराणमर्गमनु-सारेण रुढौ आगता। सा च प्रस्तुता प्रथमतस्तावत् आह्निकविधिः विविच्यतेऽत्र।

"आह्निकं दिननिर्वर्त्ये भोजने नित्यकर्मणि च" इत्युक्तरीत्या आह्निकं नाम मत संबन्धिनित्यकर्म। तथा विधिर्नाम नियम इति। वीरशैवदिनचर्येत्यर्थः। अस्यै दिनचर्यार्थं अह्न; अष्टभागकृतः। तादृशभागस्य एकैकोऽपि भागः प्रहर इति नाम। प्रहरस्य एकस्य षष्टिघटिकाः स्युः। एवं च अह्नौ अष्टप्रहाराः भवन्ति। कारणागमे उक्तं च– "अष्टभागमहः कृत्वा एवं समापयेत्" इति। सेयं दिनचर्यापट्टिका–

प्रथम भागे

१. प्रबोधः	६. रुद्राक्षधारणम्
२. शौचविधिः	७. शिवसन्ध्योपासनम्
३. दन्तधावनम्	८. उषःकालीनपूजा
४. स्नानकर्म	९. जपयज्ञः (सावित्रीजपः)
५. भस्मस्नानम्	१०. सूर्योदयकालीनपूजा

द्वितीयभागे[२]

१. वेदागमाभ्यासः
२. शास्त्राध्यापनम्
३. सूर्योदयानन्तरकालीनपूजा
४. पूजार्थां पुष्पादीनामाहरणम्

तृतीयेभागे[३]

१. पोष्यार्थसिञये यत्नः करणीयः (कायकः)

चतुर्थभागे[४]

१. स्नानार्थं मृदाहरणम्
२. स्नानार्थं शिवतीर्थ प्रकल्पनम्
३. माध्याह्निकं स्नानम्
४. सन्ध्याद्वयोपासना

पञ्चमभागे[५]

१. पञ्चमहायज्ञाः कर्तव्याः गृहिणा मुदा।

षष्टमभागे[६]

१. माध्याह्निकीपूजा
२. अतिथिसत्कारः
३. जङ्गमाराधनम्
४. पुराणाभ्यासः
५. जीवनसामग्रीसंपादनम्

सप्तमभागे[७]

१. जलस्नानम् - भस्मस्नानम्
२. पश्चिमसन्ध्योपासना
३. होमकार्यम्
४. सायन्तिनी पूजा
५. वैश्वदेवः

अष्टमभागे[८]

१. अर्धरात्रिकीपूजा
२. अतिथिपूजा
३. शिवध्यानेन पूर्वक सुखनिद्रा

अत्रेदंविचारणीयम्– सर्वाण्याह्निकानि प्रायः पूजाङ्गान्येव। तत्र भस्मरुद्राक्ष-धारणादीनां केषाञ्चन साक्षादङ्गत्वम्। मृद्पुष्पगुग्गुलाहरणादीनां न साक्षादङ्गत्वम्। अपि च वेदागमाभ्यासपुराण प्रवचनतत्वबोधादयश्च केचनविधयः सर्वेषां नियताः। वैश्वदेवजङ्गमाराधनातिथिसत्कारादश्च विधयः गृहस्थस्यैव नियताः। अत्र केचन विचार्यन्ते।

प्रबोध:— प्रबधविधौ वीरशैव: कदा प्रबुद्ध्यात्? प्रबुद्धेन किं करणीयम्? कस्यमुखं द्रष्टव्यम्? किं च चिन्तनीयम्? इत्यादिविषया: प्रोक्ता:। वीरशैवस्तु प्रशस्ते ब्राह्मे मुहूर्ते बोधयेत् (प्रबुद्ध्यात्)। बुद्ध्यमान: स्वेष्टलिङ्गं नेत्रयो: संस्पर्शयन् गुरूपदिष्टमार्गेण हृदि शिवस्य गुरो: च दिव्यं रूपं चिन्तयेत्। तत: दिनकृत्यं धर्मान् अर्थान् च अनुचिन्तयेत्। अथशिवभक्तं भस्मरुद्राक्षबिल्वमहीरूहं वा पश्येत्।

ब्राह्मेमुहूर्तेमद्भक्तोबुद्ध्यमानो नगात्मजे।
नेत्रयो: संस्पर्शयन् इष्टलिंगंमामनुस्मरेत्।।
धर्मान्अर्थांश्चदिनकृत्यं च चिन्तयेत्।
मद्भक्तं भस्मरुद्राक्षं मां च बिल्वमहीरूहं।।
प्रात:कालेतु य: पश्येत सोऽभीष्टं समवाप्नुयात्।।

(का.आ.तृ.प. २-४)

द्रष्टव्यम्— इदमेव कन्नडशिवशरणेन 'अल्लमप्रभुणा' वचनरूपेणोक्तम्।

मुन्दुजावदोलेद्धु लिंगदंध्रियमुट्टि। सुप्रभात-
समयदोलु सद्भक्तरमुखवनोडुवुदु हुट्टिदुदक्के इदुवे
सकल नोडा, सत्यवचनविंतेंदुदु (आगम)
इविल्लदवर नानोल्लेकाणा गुहेश्वरा।। इति।

(प्रभुदेवरवचनगलु)

अत्रेदमवधार्यम्— प्रशस्तेब्रह्ममुहूर्ते प्रबोधेन मनस: प्रसादसौम्यत्वं संपद्यते। लिंगगुरुशिवध्यानेन च असत्शक्ति: न प्रविशति मन:। प्रभाते भक्तदर्शन, लिंगस्पर्शन, भस्मरुद्राक्षाद्यष्टावरणदर्शनेनाऽभीष्टसिद्धिरपि भवेत्।

शौचविधि:— शौचविधौ मूत्रपुरीषविसर्जनं करपादमुखप्रक्षालनं दन्तधावनञ्चेति त्रिविधं वर्तते। प्रबोधविधिमाचरणानन्तरं शौचार्थं ग्रामाद्बहि: शरक्षेपमितामाग्नेयींविदिशं यायात्। तत्र जलपात्रंनिधाय शिवसूत्रंमूर्ध्निविन्यस्य वाससाशिर:प्रावृत्य च शौचयोग्यनिर्जनप्रदेशे लोष्ठकाष्टतृणादिकं प्रसार्य तदुपरि दिवौ उत्तराभिमुख: रात्रौदक्षिणाभिमुख: सन् उपविश्य ऊर्ध्वं वाध: न विलोकयन् तथा सूर्यचन्द्राग्निगोस्त्र्यादीन्नाभिमुखीकुर्वन् मूत्रं पुरीषं च विसृजेत्। तत:

लोष्टादिकैस्तैः प्रावरणं च कुर्यात्। अथ भावशुद्धि समन्वितः मृदावारिणा शौचं उक्तविधिनाकुर्यात्।

तथैव छाया-कूप-नदी-गोष्ठ-चैत्य-चतुष्पथ-नगोपथ-हलभूमि-वृक्षमूल-शाद्वल-देवायतन-उद्यानादि पवित्रस्थानेषु मूत्रं पुरुषं नैव विसृजेत्।

करपादमुखप्रक्षालनम्– ततः शौचं विधाय विधिवत् हस्तपादं विशोध्य च। जलं मह्यं समर्प्यैव गण्डूपान् विसृजेत् तदा।। अत्र "विधिवत् विशोध्य" इतिपदं अवगाहनीयम्। क्रमस्तु रावंवर्तते– वल्मीकमृदमाहृत्य, वामहस्तं दशवारं सादेकमृत्तिकया विलिण्य जलेन प्रक्षालयेत्। ततः करावुभौ सप्तवारं मृद्जलाभ्यां क्षालयेत्। पुनः हस्तपादं जान्वन्तं त्रिवारं एवमेव प्रक्षाल्य मुखमार्जनं कृत्वा द्वादशवारं गण्डूषमाचरेत्।

दन्धधावनम्– ततः,

आचम्य प्राङ्मुखोनित्यमाचरेद् दन्तधावनम्।
मधुरित्यादि मन्त्रेण शाखां सभिमंत्र्य च।।
आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजाः पशुवस्तुनि च
ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो देहि वनप्वते।।
इतिमन्त्रेण संप्रार्थ्य धावयेत् शाखया तथा।
सर्वेकण्टकिनः शस्ताः क्षीरिणो दन्तधावने।।

(का.तृ.प.१८,१९)

मालतीकरवीरापामार्गऽर्कखदिरकरंजकुटजनिम्बादिकण्टकक्षीरवृक्षसमुद्भवेन मध्याङ्गुलिसमस्थौल्यद्वादशाङ्गुलसंमितेन काष्ठेन षड्निमेषपर्यन्तं दन्तधावन-माचरेत्। ततः तर्जनीमध्यमानामिकाङ्गुलित्रयं योगतः वेश्य शनैः शनैः गलमध्यं मार्जयेत्। अपि च बद्धाङ्गुष्ठेन विक्षेण भारन्ध्रकं मार्जयेत्। एवं च निद्रान्ते भोजनांते दिवान्ते च दिने दिने आचरेत्।

अत्रावधेयम्– शौचविधिरयं वैद्यविज्ञानक्रियाकलाप एव। सर्वक्रियासु दृश्यमानो वैज्ञानिकमनोभावः आयुर्वेदगुणश्च सर्वादरणीय एव। उदाहरणार्थं द्वादशवारकृतगण्डूषेण, कण्टकक्षीरवृक्षसमुद्भवेन कृतामर्जनेन, शनैः शनैः भालरन्ध्रं अङ्गुष्ठेन मार्जनाद्वा कफदोषः निवार्यते। नाडी निर्मलतां याति। दिव्यदृष्टिः प्रजायते। वर्चः राधते, मेधः समेधते च।

स्नानविधिः— कदा स्नातव्यम्? दन्तशुद्धिं विधायाथ प्रातः स्नानं समाचरेत्। कुत्र स्नातव्यम्?

महानद्योदेवखतास्तटाकाश्च सरांसि च।
ग्रर्तप्रस्रवणादीनि शस्तानि स्नानकर्मणि।।
मदालयसमीपे तु यत्तोयं परितिष्ठते
शिवगङ्गेति विज्ञेया तत्र स्नात्वा लभेत माम्।। इति।

स्नानं कतिविधम्? स्नानं मलस्नानं मंत्रस्नानमितिद्विविधम्। नद्यादिकं समागम्य केवलं शरीरमलनिवारणार्थं कृतं स्नानमलस्नानमिति। मत्स्यमण्डूकसर्पाद्यैरनेकैर्जलजन्तुभिः जलं नित्यं सेवितत्वात् दुष्टं भवेत्। अतः तद्दोषसमनार्थं पञ्चब्रह्मादिभिः मन्त्रैः अथवा मूलप्रणवेनाभिमन्त्र्य गुरुजंगमपादधूलोदकेन मिश्रणं कृत्वा शिवतीर्थेति प्रकल्पिते जले" करणीयं स्नानं मन्त्रस्नानमिति कथ्यते। तादृशे जले पञ्चाङ्गपूर्वकं स्नानमाचरेत्। पंचाङ्गस्नानं नाम्—

सङ्कल्पः सूक्तपठनं मार्जनं चाद्यमर्षणम्।
देवतातर्पणं चैव स्नान पञ्चाङ्गमुच्यते।।

(का.आ.तृ.प.)

एतादृशस्नानस्य प्रयोजनं किंम्?

रूपं तेजो बलं धैर्यं आयुर्धृतिमरोगता।
मेधाः दुःस्वप्ननाशश्च गुणाः स्ननस्य कीर्तिताः।।

शिवसन्ध्योपासनम्— वीरशैवानां सन्ध्योपासनम् नावश्यकमिति वदन्ति केचन। किन्तु न तत् साधु। तदुक्तं कारणागमे—

ततः सन्ध्यामुपासीत प्राणायमपुरस्सरम्।
मदीयसांध्यकोपास्तिः सन्ध्योपास्तिः प्रकीर्तिता।।
सवितुर्मण्डलस्वामी सावित्रीदेवतास्म्यहम्।
सन्ध्याकाले मदन्यात्तु देवता यद्युपास्यते।।
चत्वारि तस्य नश्यन्ति ह्वायुः प्रज्ञा यशो बलम्।
तत् निसन्ध्यमस्योऽहमान्तरः सवितुः परः।।
भर्गमुख्याभिधानश्च प्राणधी चोदकः सदा।।

(का.आ.तृ.प.)

इदमत्राकूतम्– अत्र संध्यावन्दनं नाम शिवसन्ध्योपासना एव। न तु सूर्योपासना। सवितुः मण्डलस्वामी शिव एव। अत्र भर्गशब्दः अकारान्तपुल्लिंग एव न तु सकारान्तः। अतः भर्गशब्दस्य शिव एव मुख्यार्थः। "ओं भर्गाय नमः" इति शिवाष्टोत्तरशतनामावल्यामपि प्रसिद्धः। एतेन च "भर्गो देवस्य धीमहि" इति श्रुतिरपि व्याख्याता। भर्गो नाम भर्ज्यन्ते दह्यन्ते पापान्यनेनेति। आदिपुराणे हि उक्तम्–

गायत्र्याः परमं तत्वं देवदेवो महेश्वरः।
इति ध्यात्वा जपन् विद्वान् गायत्र्याः फलमश्नुते।।

अतः वीरशैवैः सन्ध्योपासना करणीया।

विशेषविचारः– आह्निकेष, वीरशैवैः कर्तव्याः वेदाभ्यासशिष्यपाठनं (द्वितीयभागे) पुराणाभ्यास-स्तोत्रादिपठनं (षष्टभागे) इत्यादयः पूजायाः प्रधानाङ्गत्वेन परिगण्यंते वैदिकमतेष्विव। किन्तु अस्मन्मतेऽद्य लुप्तप्रायाएव। एवमेव तृतीयभागे षष्टभागे च कार्यं जीवनसामग्री संपादनं वा कायकः आश्रमायात्तमेव। सर्वाश्रमाश्रयिणागृहस्थेन पोष्यार्थे अधिकसमयं यत्नः करणीयः। वीरशैव संन्यासिनां पूजायां अधिकसमयः व्ययः।

पञ्चमप्रहरेविनिर्दिष्टपञ्चयज्ञेषु, षष्टप्रहरे निर्दिष्टगुरुजङ्गमादिसत्कारे च वीरशैवानां उच्चसंस्कृतिः प्रकटितास्ति। तत्रापिस्वभोजनपूर्वे गवादिप्राणिनां अतिथीनां च भोजनार्थं अन्नाद्याहारपदार्थानां प्रत्येकस्थापनरूप (मीसलु) वैश्वदेवस्तु अद्यापि जनपदेषुदृष्यमाना उत्तमोत्तमवीरशैवसंस्कृतिरेव भवति। अतिथि सत्कारोऽपि वीरशैवानां विशिष्टः संप्रदायः एव। एषा "दासोहसंस्कृति"-रिति उद्घोषिता शिवशरणवरेण्यैः।

शिवपूजापद्धतिः

संसारसागरेऽगाधे दुःखावर्तशताकुले।
मज्जतां मनुजानां वै पूजामाहेश्वरस्य नौः।।

शिवपूजापद्धतिर्नाम शिवरूपिणः इष्टलिंगस्य अर्चनक्रम एव। सा च शिवपूजा महती-गुर्वी-लघ्वीति त्रिधाभिध्यते उत्तममध्यमाधमरुपसाधकभेदात् अर्चनोपचारभेदाच्च।

श्रृणुरुद्रप्रवक्ष्यामि पूजाभेदाननुत्तमम्।
पूजाहि त्रिविधा प्रोक्ता गुर्वी च महतीलघुः।।

महतीमुत्तमः कुर्यात् गुर्वीं मध्यम एव च।
लघ्वीमशक्तः कुर्यात् सायं मध्याह्नकालयोः।।
(का.आ.,च.प., ४,५)

अत्रापि उत्तममध्यमाधमपदानां निराभारिविशेष सामान्यवीरशैवा इत्यप्यूहितुं शक्यते। अत्रोक्ताः पूजाः तिस्रः सायंमध्याह्नकालीनाः। अपि च तद्भिन्ना प्रातः करणीया अवसराख्या पूजाप्युक्ता। अतः आहत्य शिवपूजा चतुर्धा।

प्रत्यहं भक्तिशालिभिः उत्तमैः षट्कालं त्रिकालं वा पूजा करणीया।

अरुणस्योदये सूर्यस्योदये संगवे तथा।
मध्याह्ने च ततः सायमर्धरात्रे च सुव्रते।।
उत्तमैर्श्चनीयोऽहं षट्कालं भक्तिशालिभिः।
महतीं वा गुरुं वापि लघ्वी वा यत चेतनः।।
कालेषु षट्सु पूज्योऽहं त्रिसंध्यमथवा पुनः।।
(का.आ.,च.प.)

उत्तमानां षट्कालं, मध्यमानां त्रिकालं, सामान्यानां कृषिककर्मचार्यादीनां एकवारं नियतमिति विधीयते।

वैदिकी-तान्त्रिकी पूजा

शिवपूजापद्धतिरियं पुनरपि द्विधा भवति, वैदिकी-तान्त्रिकीति। प्रथमा वेदविदांवराम्। द्वितीया तु वेदाऽनभिज्ञानां स्त्रीमुख्यानाम्। वेदमन्त्रसमन्विता वैदिकी। वेदमन्त्ररहिता तान्त्रिकी। लिङ्गज्ञानमर्थज्ञानमश्रित्यैव अभिषेकार्चनोप-चारेषु वेदमन्त्राः नियोजिताः वैदिक्याम्। तथैव केवलं आगमश्लोकाः नियोजिताः तान्त्रिक्याम्। उदाः वैदिक्यां गन्धधारणे "गन्धद्वारां सुराधर्षा ..." इति वेदमन्त्रः नियोजितः। तान्त्रिक्यां तु "कामाङ्गभसितालेपसमुज्वलशुभांगक।

सुगन्धीचन्द्रसंबन्धः श्रीगन्धः प्रतिगृह्यताम्। इत्यागमश्लोकः नियुक्तः।

तान्त्रिकी पूजायां कश्चन विशेषः अस्ति च।
सर्वेषामधिकारोऽस्ति तान्त्रिकेषु वरानने।।
वैदिकानां तथान्येषां स्त्रीणां पुंसां च सुव्रते।।

तान्त्रिकपूजेयं स्त्रीमुख्यैः वेदाऽनभिरौ वैदिकैरपिसर्वैः समनुष्ठेया वर्तते। अपि च अस्यां कल्पद्वयमस्ति, मूलमंत्रेणैवपूजनं तान्त्रिकश्लोकैरपि पूजनमिति। यथा– प्रथमकल्पः।

विद्यासुश्रुतिरुत्कृष्टा रुद्रैकादशीश्रुतौ।
तत्र पञ्चाक्षरस्तत्र ''शिव'' इत्यक्षरद्वयम्।।
तस्मादधिकृतां वेदे तत्रानधिकृतामपि।
मदीयमूलमन्त्रेण पूजनं सर्वतो परम्।।

(का.आ.,अ.प. ४,५)

द्वितीयक्रमस्तु– अनुष्टेयमानोऽर्थः येषुयेषु आगमश्लोकेषु प्रकाशते तान्येव पठनपूर्वकं करणीया पूजा। यथा–

समनुष्टीयमानोऽर्थो येषु येषु प्रकाशते।
तेष्वेव पठ्यमानेषु चित्तं कृत्योऽनुरज्यते।। इति।

(का.आ.अ.प.)

महतीपूजा– इयमेव षट्स्थलानुसरणात् षट्स्थलपूजेति, दीर्घकालाचरणात् अथवा दैर्घ्यत्वात् महतीति, लिंगाङ्गसामरस्य प्राप्तरूपत्वाच्च समरसीपूजेति च कथ्यते। प्रबोधविधेरारभ्य स्नानन्तान्हिकं निर्वर्त्यानंतरं सस्थलपूजाऽरभ्यते।

भक्तस्थलपूजा

भक्तस्थले श्रद्धानाम्नाभक्त्या शिवपूजायोग्यताप्तये एताः क्रियाः करणीयाः।

आह्निकं–स्नानं–पूजागृहप्रवेशः–आसनं–ध्यानं–संकल्पः–इन्द्रियस्पर्शः–प्राणायामः–आचमनम्–भस्मोद्वर्तनोद्धूलनलेपनधारणं–रुद्राक्षधारणं–शिवसंध्योपासना–पुष्पादिसाधनसंपादनं–भद्रादिमण्डलन्यासः–दीपिका ज्वालनं–वाणानुज्ञाप्रार्थना–देशकालसंकीर्तनं–रंगवल्यां सामान्यार्घ्यपात्रादारभ्यशिवकुम्भ-पर्यन्तपात्राणां क्रमशः न्यास तत्तत्पात्रेषु तत्तदुचितभस्मचन्दनपुष्पाणिनिक्षेपणं शुद्धोदकैः पूरणं–श्रीगुर्वभ्यर्चनं–तीर्थप्रसादग्रहणं–इत्याद्यः।

सर्वाः क्रियाः सर्वत्र ससंकल्पं समन्त्रं करणीयाः।
शिवपूजायोग्यताप्तये शुद्धनाम्नाभक्त्या।।
करणीयाः क्रिया एव भक्तस्थलपूजेति कथ्यते।।

तत्र किंचिद्विचार्यते– यद्यपि शिवपूजासामग्रिसंपादनादारभ्य पूजापरिसमाप्तिपर्यन्तं याः क्रियाः ताः सर्वे शिवलिंगार्चनरतेनोत्तमेनैव (शिवाचार्य-शिवयोगिभिरेव) स्वयं करणीयाः। तथापि अद्यतन काले भक्तस्थलपूजाक्रियाः स्वशिष्येन अन्येन निर्वर्तितास्सन्ति। प्रायः कालेऽस्मिन् उत्तमाधिकारिणां

शिवयोगिशिवाचार्यस्वामिनां वा समयाभावः गुरुसेवायां शिष्यनियुक्तिरेववा अत्र हेतुरितिउपहेतुं शक्यते। प्रायः राकोत्तरशतस्थले सेव्यस्थलं अमुमेव सूचयति।

माहेश्वरस्थलपूजा

हस्तशुद्धिं विधाय करे भस्मासनं कृत्वा करण्डकात् लिंगमादाय करे निक्षिपेत्। ततः आवाहयेत्। अथ गुरुं ध्यात्वा षडङ्गन्यासं कृत्वा षडक्षरीं जपेत्। महेश्वरस्थले जपयज्ञः मुख्यः।

एषा माहेश्वरस्थले नैष्ठिकभक्त्या करणीया(क्रिया) पूजा।

प्रसादिस्थलपूजा

लिंगे भस्म अभ्युङ्क्ष्य लिंगमनुस्मरन् दशावधानविधिना निरीक्ष्य "याते रूद्रेति....." मन्त्रेण सानुरागं निराजनं निर्दिशेत्। अत्र अवधानभक्तिरेव मुख्या।

प्राणलिंगिस्थलपूजा

अस्मिन् प्राणलिंगस्थले भागास्त्रयो वर्तन्ते। अभिषेकः अर्चनं उपचारश्चेति। तत्रापि अभिषेकः मुख्यः–

अलंकारप्रियो विष्णुः अभिषेकप्रियोऽस्म्यहम्।
नमस्कारप्रियोभानुर्ममस्तोत्रप्रिया गणाः।।

शिवशासनत्वात् आगमश्लोकानि यथामूलं प्रदत्तानि अत्र। प्राणलिंगस्थले भस्मलिंगोपरिनिधाय च। मूलेनैव हि लिंगांगे पुष्पं निक्षिप्य मन्त्रितम्। नीराजनं दर्शनाख्यमसौ य इतिदर्शयेत्।

पादार्घ्याचमनं दद्यात् तत्तत्पात्रोदकेन हि।
त्यागपात्रेस्थितेनैव लिंगं संस्नाप्य वारिणा।।

आधारपात्रेणादाय संप्रोक्ष्यनिजमूर्धनि।
आवाहन्तीति मन्त्रेण वस्त्रेणोद्वार्त्य सादरम्।।

भस्मासनेनिधायैव पादौलिंगस्य भावयन्।
प्रणम्याभ्यर्च्य पाद्यं च ज्ञानपात्रजलेन वै।।

दत्वैतज्जलमाधारपात्रेणादायसुन्नमन् ।
कद्रद्रायेति संमन्त्र्य पिभेदृतमितीरमन्।।

लिंगमूलेनगङ्गाद्यैरलंकृत्य ततः परम्।
यो वै रुद्रः स भगवान् यश्चपाग्निरिति मन्त्रतः।।
नीराजनं त्ववसराख्यं दत्वा फलादिकम्।
समण्र्यानंदपात्रोदं गृह्णन्नाधारपात्रतः।।
समर्प्य प्राश्य तत्पात्रं निक्षिपेदप्यधोमुखम्।
अथाचमनपात्रस्थतोयोनाचमनीयकम्।।
दत्वा तत्सवितुरिति त्यागपात्रस्थवारिणा।।

नमकाद्यैरुद्रसूक्तिभिः अभिविच्याथतज्जलम्

नमः शम्भव इत्यात्ममूर्धनि प्रोक्षयेत् तथा। एवं मन्त्रपूर्वकं शुद्धोदक-भस्मोदक-पाद्य-अर्घ्य-आचमन-पञ्चामृत-कदलीरस-कपित्थ-खर्जूर-उर्वारुक-इक्षु-नारिकेल-आम्लादिरस-गोधूम-मुद्ग-तण्डुल-हरिद्र-आमलकादिपिष्ट-कुशोदक-पुष्पोदक-पिप्पलोदक-स्वर्णोदक-रत्नोदक-तिलोदक-चन्दनोदकादिभिः अभिषेचयेत्। भस्मोदकादि प्रत्येकं अभिषेचनान्ते वारं वारं शुद्धोदकेनाभिषिंचेत्। वारं वारं अवसाराख्यादिनीराजनं च दर्शयेत्।

अर्चनोपचारः

ततः,

आवहन्तीति वस्त्रेण समुद्वर्त्य इष्टलिंगम्।
भस्मासने निधायास्य गृह्णीयात् पादतीर्थकम्।।
ततो विधूममंगारमानीयानेन तापयेत्।
दशांगमहितं मह्यं धूपं दद्यान्मनोहरम्।।
उद्दीप्यस्वेति चततो मांगल्याख्यं च दर्शयेत्।
वस्त्रयुग्मं प्रदायाथ लिंपेद्भस्मसहोदकम्।।
गन्धद्वारमिति पठन् दद्यात् गन्धं सहाक्षतम्।
आकशादिति वै दद्यादक्षतारोपणं बुधः।।
ततः, नीराजनं दर्शयेच्च कर्पूराख्यं महेश्वरि।
तदेवर्तमिति पठन् पुष्पमाल्यानि चार्पयेत्।।
नमो हिरण्यबाहवे मकुटादि विभूषयेत्।
याते रुद्रेति दद्याछृङ्गराख्यं महेश्वरि।।
निधनपतयेति पुष्पाणि पत्राणि चार्पयेत्।
वादित्य इति बिल्वानि यो वै रुद्रेति भस्म च।।

नम ईंद्रियाय चोति श्वेतच्छत्रं समर्पयेत्।
चन्द्रमामनस इति तालव्यं तेन वीचयेत्।।
यश्चायं पुरुष इति दर्पणमर्पयेत्।
यो वेदादाविति पठन् घण्ठानादं समर्पयेत्।।
अध्यवोचदिति पठन् शंखस्वनमधार्पयेत्।
शिवेनवचसात्वेति गीतमाश्रावयेत् तथा।।
असौ योऽवसर्पतीति पठन् नृत्यं प्रदर्शयेत्।
उद्यन्तमस्तं यन्तमिति नव्यदृस्तेन कल्पयेत्।।
प्रादक्षिणानि प्रयतो मम लिंगस्य सर्वतः।
नमोऽस्तु नीलग्रीवायेत्यामनन् वै नमांस्यपि।।
नमो वृद्धाय च पठन् स्तोत्रं कुर्यादनन्यधीः।
दैवीयो इति धूपं च न तत्रेति महानीराजनं तथा।।
ईशं वहत इत्येव ज्वालायेत् करदीपिकाः।
याते रुद्र इति पठन् स्तोत्रं कुर्यादनन्यधीः।।
ईशं वहत इत्येव ज्वालयेत् करदीपिकाः।
याते रुद्र इति पठन् याजयेन्मामनन्यधीः।।
अजात इत्येवमिति विज्ञापनमथाचरेत्।
वेदान्त विज्ञान इति पूजापुष्पादिकंत्यजेत्।।

कारणागमः

विचारः– अत्र प्राणलिंगिस्थलपूजायां आवाहन–आसन–पाद्य–अर्घ्य–आचमन–अभिषेक–वस्त्र–यज्ञोपवीत–अङ्गारक (ताप)–धूप–भस्म–गन्ध–अक्षत–पत्रपुष्पमाला–मुकुट–छत्र–चामर–तालव्य–दर्पण–घण्टा–शङ्ख–गीत–नृत्त–प्रदक्षिण–नमस्कार–स्तोत्र–धूप–दीप–याचना–विज्ञापन–पुष्पांजलि–नैवेद्य–फल–ताम्बूल–अर्पणादिभिः चतुर्विंशोपचारकैः पूजयेत्।

तथा– दर्शन–मज्जन–अवसर–मांगल्य–कर्पूर–शृङ्गार–महा–आनन्द–असंख्या–सानुराग–ताम्बूलाख्य एकादशनीराजनानि च उपचारसमये दर्शयेत्।

विशेषविचारः– अत्र अभिषेक–अर्चन–अर्पणादि द्वारा केवलं बाह्यार्चनमेव निरूपितम्। किन्तु बाह्यलिंगार्चनेन समं अन्तर्लिंगार्चन संपन्नमेव वीरशैवलक्षणम्। इष्टलिङ्गार्चन पुरस्सरं प्राणलिंगपूजनं कृते सति तत्पूजनमेव सम्यक्पूजनम्।

तथा पूजयितार एव वीरशैवाः। बाह्याभ्यन्तरयोः इष्टलिंग-प्राणलिंगयोरर्चनं वीरशैवैः कर्तव्यम्। अत एव सिद्धान्तशिखामणि-क्रियासारादिषु अन्तर्लिङ्गार्चनमुक्तं हि।

सिद्धान्तशिखामणौ-

अन्तर्गतं चिदाकारं लिंगं शिवमयं परम्।
पूज्यतेभावपुष्पैर्यत्प्राणलिंगार्चनं हि तत्।।
क्षमाभिषेकसलिलं विवेको वस्त्रमुच्यते।
सत्यमाभरणं प्रोक्तं वैराग्यं पुष्पमालिका।।
गन्धस्समाधिसंपत्तिरक्षता निरहंकृतिः।
श्राद्धादूपो महाज्ञानं जगद्भासाप्रदीपिका।।
भ्रान्तिमूल प्रपंचस्य नैवेद्यं तन्निवेदनम्।
मौनं घण्टापरिस्पन्दः ताम्बूलं विषयार्पणम्।।
विषयभ्रान्तिराहित्यं तत् प्रदक्षिणकल्पना।
बुद्धेस्तदात्मिकाशक्तिर्नमस्कार क्रियामता।।
एवं विधैर्भावपुष्पैरूपचारैरदूषितैः।
प्रत्युन्मुखमनाभूत्वा पूजयेल्लिंगमान्तरम्।। इति।

अपि च- नादचिन्नदामुद्रयोरन्यतरमुद्रयाविशिष्टः अन्तर्यजनमनुसंधानं वा कुर्यादिति गुरुसांप्रदायसंसिद्धं मतम्।

शरणस्थलपूजा- अर्पणमपि अर्चनाङ्गमेव।

तदर्पणमेव शरणस्थलपूजेति कथ्यते।
अङ्गं च लिंगं च भक्ति शक्ति तथा स्थलम्।।
मुखं हस्तं प्रसादं च ज्ञात्वा वै सम्यगर्चयेत्।
एवं अर्पणसद्भावं सर्वदैव समभ्यसेत्।।

अर्पणसद्भाव पट्टिका

स्थलम्	शक्तिः	मुखम्	लिङ्गम्	भक्ति	हस्त	मन्त्र	पदार्थ	इन्द्रिय
१. भक्त	क्रिया	सद्योजात	आचार	श्रद्धा	सुचिन्त	न कार	गन्ध	नासिका
२. महेश	ज्ञान	वामदेव	गुरु	निष्ठा	सुबुद्धि	म	रस	जिह्वा
३. प्रसादि	इच्छा	अघोर	शिव	अवधान	अहंकार	शि	रूप	नेत्र
४. प्राणलिंगि	आदि	तत्पुरुष	चर	अनुभव	सुमन	वा	स्पर्श	चर्म
५. शरण	परा	ईशान	प्रसाद	आनंद	सुज्ञान	य	शब्द	श्रोतृ
६. ऐक्य	चित्	परशिव	महा	समरस	सद्भाव	ओं	संकल्प	मनः

भक्तस्थलेक्रियाशक्तियुते वै नासिकाङ्गके। आचारलिंगसंज्ञेऽसिन् सद्योजातमुखात्मके। गन्धप्रसादं सद्भक्त्या चित्तहस्तेन चार्पयेत्।। एवमेव शिष्टस्थलेषु पट्टिकां दृष्ट्वा योजयेत्।।

ऐक्यस्थलपूजा– मूलेन लिंगे पुष्पं निधाय, यतो वाचो इति मन्त्रेण आनन्दाख्यनीराजनं दर्शयेत्। ततः साविश्वकृदितिमन्त्रेण ताम्बूलं, आरभ्येतिमन्त्रेण ताम्बूलाख्यनीराजनं च दर्शयेत्। अथ यो ब्रह्ममिति ईशान इति च मन्त्रेण च पुष्पजातं मन्त्रपुष्पं समर्पयेत्। असंख्याताः सहस्राणि इत्यादिमन्त्रं समुच्चरन् असंख्याताख्यनीराजनं दर्शयित्वा अणोरणीयन् इति मन्त्रेण सज्जिकायां सुविन्यसेत्। इति।

आहृत्य– भक्तस्थले श्रद्धाभक्त्या पूजासामग्रीसंपादनम्, माहेश्वरस्थले नैष्ठिक्याभक्त्या ध्यान-न्यास-जपादिकरणम्, प्रसादिस्थले अवधानभक्त्या भस्मादिधारणम्, प्राणलिंगिस्थलेअनुभभक्त्या अर्चनम्, शरणस्थले आनन्दभक्त्या समर्पणम्, ऐक्यस्थले समरसभक्त्या पुष्पाञ्जलिप्रदानम् इदमेव सस्थलपूजनमिति।

पात्राणां नीराजनानां उपचारादीनां संख्यां विना शिष्टंसर्वं समंप्रोक्तं अवसरादिपुजासु। अतः ताः अवसरादिपुजाः महापुजायामेव अन्तर्गताः। तेनात्र प्रत्येकं नोक्ताः। नमक रुद्राध्यायादिपठनं विना संक्षेपेणकृते अवसरा। तथा रुद्राध्यायपठनपूर्वकं संक्षेपेण कृते लघ्वी। पाद्यार्घ्याचमनाख्यानि त्यागज्ञानादि-कानिपात्राणि विहाय शेषं महापूजावत् कृते गुर्वीति।

शिवपूजायाः प्रयोजनविषये मन्तव्यांऽशाः

१. "सत्यं ब्रवीमि परलोकहिततं ब्रवीमि
संसारमुल्बणमसारमवाण्यजन्तोः
सारोऽयमीश्वरपदाम्बुरूहस्य सेवा।।"

–स्कन्दपुराणम्।

२. "वीरशैवमतस्थस्य मुक्तिःकरतले स्थित।।"

–पारमेश्वरागमः।

३. संसारसागरेऽगाधे दुःखावर्तशताकुले।
मज्जतं मनुजानां वै पूजामाहेश्वरस्य नौः।।

–वीरशैवाचारप्रदीपिका

विशेषप्रयोजनम्–

४. प्रजादौपूजान्ते भवेदयं भक्तितः पदार्थतनुः।
पूजान्ते पूजादौ प्रपदेत् पुनरेवहि प्रसादतनुम्।।

५. पदार्थकायः पूजायां भक्तो भक्तिप्रभावतः।
प्रसादकायः पूजान्ते पुनः पूजाक्रियावधौ।।

–ग्रन्थान्तरः

सर्वश्लोकानां अर्थस्तुस्पष्ट एव।

अवलोकितग्रन्थाः

१. कारणागमः – बंगलूरुनगरतः, वीरशैवानुसंधानसंस्थाद्वारा प्रकाशिताः

२. चन्द्रज्ञानागमः – बंगलूरुनगरतः, वीरशैवानुसंधानसंस्थाद्वारा प्रकाशिताः

३. सूक्ष्मागमः – बंगलूरुनगरतः, वीरशैवानुसंधानसंस्थाद्वारा प्रकाशिताः

४. पारमेश्वरागमः – बंगलूरुनगरतः, वीरशैवानुसंधानसंस्थाद्वारा प्रकाशिताः

५. शिवपूजाविधिः – सदाशिवाचार्याः, शिवयोगमन्दिरम् –१९३०

६. प्रभुदेवरवचनगलुः कर्नाटकसर्वकारः।

OOO

वीरशैवधर्म के संस्कारों की दृष्टि में कुण्ड, मण्डप, मण्डल और स्थण्डिलों की रचना

•

–पं. जगन्नाथशास्त्री तैलङ्ग
के.३०/५३ (३०/४०) गङ्गाधरशास्त्रीभवन
घासीटोला, वाराणसी - २२१ ००१ (उ.प्र.)

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशु-मृग-वराऽभीति हस्तं प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणै र्व्याघ्रकृतिं वसानं
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्।।

–पारमेश्वरागम (११/५६)

महाशिवरात्रि के शुभावसर पर समायोजित संगोष्ठी में आचार्यचरणों के आदेशानुसार वीरशैव सम्प्रदाय में विविध अवसरों पर आवश्यक कुण्ड-मण्डप आदि की रचना के विषय में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।

जैसा कि 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' (३/२३) का वचन है–

''यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।''

अर्थात् जिसकी परमेश्वर के प्रति अत्यन्त भक्ति होती है और जिस प्रकार परमेश्वर के प्रति अत्यन्त भक्ति होती है और जिस प्रकार परमेश्वर के प्रति परा भक्ति होती है, उसी प्रकार गुरु भक्ति के प्रति भी परा भक्ति होती है, उसी महान् आत्मस्वरूप शिष्य के प्रति उपदिष्ट सभी शिवतत्त्व प्रकाशित होते हैं।

नित्य शिवलोक की प्राप्ति के लिए श्रीगुरुचरणों में शरण जाने की आज्ञा 'मुण्डकोपनिषद्'' (१.२.१२) इस प्रकार दे रही है–

''तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
सात्रत्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।''

उस नित्य शिवलोक प्राप्ति के शिष्य को समधिा आदि उपायन हाथ में लेकर परब्रह्मस्वरूप शिव में आस्था रखने वाले सद्गुरु की शरण में हो जानना चाहिए।

शिवयोगि शिवाचार्य विरचित– ''सिद्धान्तशिखामणि'' के षष्ठ परिच्छेद में एतदर्थ दीक्षालक्षणगुरुकारुण्यस्थल का ही निरूपण किया गया है। सद्गुरु के चरणों में रहकर शिष्य को छः मास, एक वर्ष अथवा जबतक गुरु प्रसन्न न हों, तब तक उनकी सेवा करनी चाहिये और उनसे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए–

''भो कल्याण' महाभाग्' शिवज्ञान महोदधे!।
आचार्यवर्य सम्प्राप्तं रक्ष मां मभारोगिणम्।।''

(६.९.१०)

(हे कल्याण की चिन्ता करने वाले परमशिवस्वरूप ज्ञान के महासागर आचार्यवर्य! आप सांसारिक रोगग्रस्त शरणागत मुझ शिष्य की रक्षा करें।)

इस प्रकार शुद्धान्तःकरण से जब शिष्य सद्गुरु की प्रार्थना करता है, तब सद्गुरु इसमें तीव्रतर शक्तिपात का अनुभव करता है। उसी समय सद्गुरु उसे दीक्षा दे। "दीक्षा" उसे कहते हैं, जो शिवज्ञान प्रदान कर मल-माया कर्मबन्धन का क्षय कर शिष्य को भवपाश से मुक्त करे। क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति रेणुकाचार्य इस प्रकार करते हैं–

दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाश बन्धनम्।
यस्मादतः समाख्याता दीक्षेतीयं विचक्षणैः।।

(सिद्धान्त शिखामणि ६/११-१२)

वह दीक्षा तीन प्रकार की होती है– वेधादीक्षा, मन्त्रदीक्षा और क्रियादीक्षा।

गुरु के दृष्टिपात और मस्तक पर हाथ रखने मात्र से जो शैवभाव का समावेश शिष्य में होता है वह है वेधादीक्षा। जो प्रण व मन्त्र और पञ्चाक्षर शिवमन्त्र का मनन त्राण (रक्षा) का कारण होता है, उस मन्त्र का उपदेश मन्त्र दीक्षा कहलाती है।

दीक्षामण्डप– जिस में सद्गुरु लिङ्गधारण कराता है वह दीक्षा क्रियादीक्षा कहलाती है। जैसा कि वचन है–

''कुण्डमण्डनिकोपेता क्रियादीक्षा क्रियोत्तरा''

(सि.शि.म. ६.१५)

उस क्रियादीक्षा को क्रियान्वित करने के लिये मण्डप और उसमें कुण्ड इत्यादि का निर्माण आवश्यक होता है। "पारमेश्वरागम" (१.७६) के अनुसार जो बिना

क्रियादीक्षा के लिङ्गधारण करता है अथवा भक्तिरहित होकर उस लिङ्ग का त्याग करता है, वह घोर नरक में जाता है–

''शिवदीक्षा विना देवि! यः कुर्यात् लिङ्ग धारणम्।
स याति नरकं घोरं यस्त्यतेत् तदभक्तितः।।''

वह शिवदीक्षा दीक्षागुरु ही देता है और उसके लिये दीक्षामण्डप की आवश्यकता होता है। **''पारमेश्वरागम''** (३.३-५) में उसकी निर्माणविधि वर्णित इस प्रकार है–

''उपलिप्य गृहं सम्यगुक्तलक्षण के दिने।
सुधारि शोभितं कुर्याद् रङ्गवल्ल्याद्यलङ्कृतम्।।
वितानतोरणैर्युक्तं धूपदीपविराजितम्।
सन्मङ्गल समायुक्तं यथाविभवविस्तरम्।।
यथाशक्ति यथाशक्ति मनोमत्यर्थ संयुतम्।
कार्यं हि विभवं देवि! वित्तशास्यं न कारयेत्।।''

अर्थात् शुभ मुहूर्त में दीक्षामण्डप को गोमय आदि के लेपन से पावन करना चाहिये और अनन्तर उसे रङ्गवल्ली आदि से अलंकृत करना चाहिये। उसमें वन्दन वार तोरण इत्यादि लगाने चाहिये। धूप-दीप प्रभृति पूजा-सामग्री उसमें रखनी चाहिये। इस प्रकार दीक्षामण्डप को अपने वैभव, शक्ति, भक्ति, मन तथा बुद्धि के अनुसार सज्जित करना चाहिये और उसमें किसी प्रकार की धन सम्पदा में वञ्चना नहीं करनी चाहिए।

अनन्तर यजमान को प्रातः काल मङ्गलस्नान के पश्चात् कलशस्थापना के लिए उस मण्डप में मण्डल रचना करनी चाहिये, जिसकी निर्माणविधि **''पारमेश्वरागम''** (३.६-९) में इस प्रकार वर्णित है–

''सुशुभे सुसमे देशे गोमयेनोपलिप्य च।
रक्तमृत्तिकया तत्र विलिप्य चतुरस्त्रकम्।।
बाहुप्रमाणमात्रेण पञ्चवर्णैर्विलेखयेत्।
रङ्गकैश्चित्रकैः पद्मैः सर्वत्र समलङ्कृते।।
मण्डले नूतनं वस्त्र माच्छाद्य तदुपर्यभ।
पञ्च प्रस्थ प्रमाणेन निक्षिपेत् शालितण्डुलान्।।''

अर्थात् उस दीक्षामण्डप में समतल भूमि को गोमय से शुद्ध-पवित्र करना चाहिये। उसके ऊपर केवल एक हाथ बराबर चौकोर मण्डल की रचना करनी चाहिये, जो पाँच रंगों की रङ्गोली से बना हुआ हो। उस पर रंग-बिरंगे कमल बनाने

चाहिये और अनन्तर उसे लाल कपडे से ढकना चाहिये। उस पर पाँच प्रस्थ अस्सी मुट्ठी चावल बिछाकर उसके ऊपर कलशस्थापना करनी चाहिए।

स्थण्डिल और कुण्ड– वीरशैव दीक्षा में हवन भी आवश्यक होता है, जिसके लिये स्थण्डिल और कुण्डलों की रचना आवश्यक होती है। उसकी रचना विधि "**पारमेश्वरागम**" (४.२-५) में का इस प्रकार निरूपण है–

"वृत्वा सङ्कल्पमीशानि! होमदेशं विशोधयेत्।
स्थण्डिले वापि कुण्डे वा यथाकामं समाचरेत्।।
स्थण्डिले सर्वसम्पत्तिः कुण्ड सर्वार्थ सिद्धयः।
स्थण्डिलं त्रिविधं प्रोक्तं कुण्डं पञ्चविधं प्रिये।।
चतुरस्त्र त्र्यस्त्र वृत्त भेदा धर्माऽर्थ कामदाः।
चतुरस्त्र त्र्यस्त्र वृत्ताऽर्धचन्द्र कमठाः क्रमात्।।
धर्मार्थकामसायुज्यकैवल्यफलयाचिनः ।।"

जहाँ होम करना हो, भूमि को गोमय से लेपन कर उसमें स्वेच्छानुसार स्थण्डिल अथवा कुण्ड बनाना चाहिये। स्थण्डिल में हवन करने से सर्वविध सम्पदा की प्राप्ति और कुण्ड में हवन करने से सर्वार्थ सिद्धि की पूर्ति होती है। आकार की दृष्टि से विभिन्न स्थण्ड रचना का विभिन्न फल है। स्थण्डिल जिस प्रकार का है, जिसमें चतुरस्त्र (चौकोर) स्थण्डिल धर्मप्रद, त्र्यात्र (त्रिकोण) स्थण्डिल अर्थप्रद तथा वर्तुलाकार (गोल) स्थण्डिल कामना पूर्ण करने वाला होता है।

उसी प्रकार पञ्चविध कुण्ड में चतुरस्त्र (चौकोर), कुण्ड धर्मप्रद, त्र्यस्त्र (त्रिकोण) कुण्ड अर्थप्रद, वृत्त (वर्तुलाकार या गोल) कुण्ड कामप्रद, अर्थ चन्द्र कुण्ड सायुज्यप्रद और कच्छप (कछुवे) के आकार का कैवल्य (मोक्ष)प्रद होता है।

"**मकुटागम**" में पूजाविधान के अन्तर्गत मण्डल निर्माण का इस प्रकार उल्लेख है। तीन प्रकार की पूजा होती है– (१) अवसर पूजा, जो छः कालों में होती है। (२) लघ्वी पूजा और (३) गुर्वी पूजा। (१) अवसर पूजा में पद्ममण्डल, (२) लघ्वी पूजा में नव पद्म मण्डल और (३) गुर्वी महती पूजा में तत्त्वमण्डल का निर्माण करना चाहिये–

"पद्मं त्ववसराख्यायां नवपद्मं लघौ स्मृतम्।
गुर्व्यां महत्यामपि च भद्रं तत्वं हि मण्डलम्।।"

(म.आ., क्रि.पा.,३.५)

"**कारणागम**" के उत्तरभाग में शाम्भव्रत को लेने के लिये वीरशैवों को त्रिविध दीक्षा लेने का विधान किया गया है। सद्गुरु क्रियादीक्षा, मन्त्रदीक्षा और

वेधादीक्षा द्वारा शिष्य के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में यथाक्रम विद्यमान कार्मिक मायीय और आणवमलों का प्रक्षालन करता है और एतदर्थ सद्गुरु दीक्षामण्डप में जाकर त्रिविध दीक्षा देता है। ''कारणागम'' (१.१७-१८) में दीक्षा मण्डप की निर्माण विधि इस प्रकार वर्णित है–

''दशाभिः सूर्यहस्तैर्वा मनुभिर्नृपहस्तकैः।
दीक्षार्थं मण्डपं कुर्यात् षोडशस्तम्भसंयुतम्।।
एतेषां कण्डपानां चा पञ्चहस्तोन्नतिं विदुः।
चतुरस्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणभूषितम्।।''

वह दीक्षामण्डप दस, बारह अथवा चौदह हाथों का होना चाहिये, जिसमें सोलह खम्भे होने चाहिये। वह चतुरस्र (चौकोर) तथा चार द्वारों वाला होना चाहिये। उन द्वारों में तोरण होने चाहिये। इन मण्डपों की ऊँचाई पाँच हाथ होनी चाहिये।

''न्यग्रो घस्तस्य पूर्वस्यां दक्षिणस्यामुदुम्बरः।
अश्वत्थ उत्तरस्यां च प्लक्षः पश्चिमतो भवेत्।।''

(वहीं, १.१९)

उस दीक्षामण्डप के पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम की ओर यथाक्रम न्यग्रोध (बड़), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल) और प्लक्ष (पाकल) के पेड़ लगाने चाहिये।

''नवभागैकभागे तु मध्ये वेदीं प्रकल्पयेत्।
हस्तमात्रसमुत्सेधां दर्पणोदरसन्निभाम्।।''

(वहीं १.२०)

उस दीक्षामण्डप के नौ भाग कल्पित करके उसके एक भाग के मध्य में वेदी का निर्माण करना चाहिये, जो एक हाथ ऊँची और इस प्रकार ऊभरी हुई होनी चाहिये, जिस प्रकार दर्पण का मध्यभाग उभरा होता है। उसी दीक्षा मण्डप में हवन करना चाहिये, जिसके लिये कुण्डों का निर्माण करना चाहिये। वे हवन कुण्ड संख्या में नौ (९), पाँच (५) अथवा एक (१) होने चाहिये–

''कुण्डानि कल्पमेत् तत्र नव पञ्चैकमेव वा''

(वहीं १.२१)

यदि नौ कुण्डों का निर्माण करना हो, तो पूर्व में चौकोर आग्नेय (पूर्व दक्षिण) कोण में पीपल पत्राकृति, दक्षिण में अर्धचन्द्राकार, नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम)कोण में

त्रिकोण, उत्तर में कमल तुल्य, ईशान (पश्चिमोत्तर) कोण में अष्टकोण तथा ईशान और पूर्व के मध्य गोल अथवा चौकोर कुण्ड का निर्माण करना चाहिये।

"पूर्वास्मिश्चतुरस्रं स्यात् वह्नौ पिपलपत्रवत्।
अर्धचन्द्रं तु याम्ये स्या नैर्ऋत्यां तु त्रिकोणकम्।।
वृत्तं स्याद् वारुणे भागे वायव्यो तु षडस्रकम्।
पद्मं स्यादुत्तरे भागे चैशान्यामष्टकोणकम्।।
स्यादीशानेन्द्रयोर्मध्यो वृत्तं वा चतुरस्रकम्।।"

(वहीं १.२१२४)

यदि दीक्षामण्डप में पञ्चकुण्डों का निर्माण करना हो तो पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ईशान कोण में यथाक्रम चौकोर, अर्धचन्द्राकार, गोल, कमलाकार और गोल कुण्डों का निर्माण करना चाहिये—

"इन्द्रादिसोमकाष्ठान्तमैशान्यां च प्रकल्पयेत्।
चतुरस्रार्धचन्द्रे वा वृत्तं पद्मं च वर्तुलम्।।"

(वहीं १.२४)

यदि एक ही वेदिका की स्थापना करनी हो, तो पूर्व, उत्तर, पश्चिम अथवा ईशानकोण में स्थापित करनी चाहिये। अथवा एक हाथ ऊँचे स्थण्डिल का निर्माण करना चाहिये, जो तीन अंगुल ऊँचा और बालू अथवा मिट्टी किसी से भी बनाया जा सकता है—

"एकाग्निवेदिका पूर्वे चोत्तरे पश्चिमेऽपि वा।
ईशान्यां चतुरस्रं वा वृत्तं वापि प्रकल्पयेत्।।
स्थण्डिलं वाभ कुर्वीत हस्तमात्रप्रमाणकम्।
सिकताभिर्मृदावापि गुणाङ्गुलमितोन्नातिम्।।"

(वहीं १.२४-२६)

इस प्रकार मण्डप निर्माण के अनन्तर उसे सुसज्जित करना चाहिये। "कारणागम" (१.२६-२८) में उसकी विधि इस प्रकार पर्णित है—

"मण्डपं रचयित्वैवं ध्वजाद्यैस्तं विभषयेत्।
मुक्ताजालवितानैश्च फलपल्लवपङ्कजैः।।
रम्भाभिर्दर्भमालाभिर्दर्पणै धूपवर्तिभिः।
तत्र गौरी लता लिङ्ग मण्डलं विलिखेद बुधः।।
पञ्चवर्णयुतेश्चूर्णैरथवा शुभ्रवर्णकैः।।"

दीक्षामण्डप के निर्माण के अनन्तर उसे ध्वज-पताका, मोतियों की झालर, विविध फल, विविध पत्र, कमल, विविध पुष्प, कमलीरुम्भ, घासफूस, फूलमाला, दर्पण आदि शोभासामग्री से अलंकृत करना चाहिये तथा धूप वर्तिकाओं की सुरभि से सुगन्धित करना चाहिये। उसम मण्डप में पाँच रंगों की रंगोंली अथवा शुभ्र रंगोली से 'गौरीलता' अर्थात् पियाल कीलता से वेशि मण्डप चित्रित करने चाहिये।

''मकुटागम'' में त्रिविध पूजा के अवसर पर वर्णित त्रिविध मण्डल की निर्माणविधि का ''कारणागम'' में इस प्रकार सविस्तर निरूपण किया गया है-

''पद्मं भद्रं तथा तत्वमण्डलं हि क्रमोत्तमम्।
अर्चनोचितपात्राणां विन्यासाय प्रकल्पितम्।।''

महती, गुर्वी और लघ्वी त्रिविध शिवपूजा का विधान है। उसी प्रकार त्रिकाल अवसर पूजा भी की जाती है, जिनके अन्तर्गत मण्डलों के बीच पूजा पात्रों को रखा जाता है। वे मण्डल त्रिविध होते हैं- (१) पद्ममण्डल, (२) भद्रमण्डल और (३) तत्त्वमण्डल। ''कारणागम'' (क्रियापाद ४.१७) के अनुसार- 'पद्ममण्डल' का निर्माण इस प्रकार होता है-

''सिततण्डुलचूर्णेन पद्ममण्डदलं भवेत्।''

अर्थात् पद्ममण्डल को चावल के शुभ्र चूर्ण से बनाना चाहिये, जो अष्टदल होना चाहिये। 'भद्रमण्डल' की निर्माण विधि इस प्रकार है-

''अष्टौ पूर्वाग्रगां लेखा लिखेत तिर्यक् तथा पुनः।
एकोन पञ्चाशत् कोष्ठचक्रमेवं भवेत् ततः।।
सूक्ष्मपद्मानि विन्यस्येत् षट्त्रिंशत्कोष्ठके तथा।
त्रयोदशसु मध्येषु लिखेदष्टदलाम्बुजम्।।
दशायुधानि विन्यस्येत परितो मण्डलं पुनः।
पूर्वे तु स्वास्तिकं शंखमाग्नये कमलां तथा।।
दखिणे चामरं छत्रं नैर्ऋत्यां पञ्चकोणकम्।
पश्चिमे नागबन्धं च वायौ षट्कोणकम्।।
एतल्लिङ्गार्चना पात्रविन्यासार्हं मम प्रियम्।
भद्रमण्डलमाख्यातं भद्रदं मुक्तिदं परम्।।''

(कारणागम ४.१८-२२)।

भद्रमण्डल की रचना करते समय पूर्व की ओर आठ रेखाएँ अंकित करें और उनमे आठ आडी संख्याएँ खींचें। इस प्रकार उनचास (४९) खानों का चक्राकार भद्रमण्डल बनता है। उन ४९ कोष्ठकों के अन्तर्गत छत्तीस (३६) श्रेष्ठकों में छोटे-

छोटे कमल तथा मध्यवर्ती तेरह (१३) कोष्ठकों में अष्टदल कमल अंकित करने चाहिये। फिर भद्रमण्डल के चारों ओर दिशाओं के क्रम से इस प्रकार दस आयुधों का अंकन करना चाहिये– स्वस्तिक और शंक (पूर्व), कमल (आग्नेय), चामर और छत्र (दक्षिण), पञ्चकोण (नैर्ऋत्य), नाग बन्ध (पश्चिम), षट्कोण (वायव्य), डमरु (उत्तर) तथा अष्टकोण शूल (ईशान कोण)। इस प्रकार का भद्र मण्डल कल्याण प्रद तथा मुक्तिकारक होता है।

तत्त्वमण्डल का निर्माण विधि इस प्रकार है–

''सप्तत्रिंशल्लिखेद् रेखा ऊर्ध्वागस्तिर्यगप्यथ।
षण्णवत्पुत्तरद्वादश शतात्मककोष्ठकम्।।
चक्रं भवति तन्मध्ये षट्त्रिंशद् दल वारिजम्।
परितः सर्वकोष्ठेषु सूक्ष्मपद्मानि संलिखेत्।।
दशायुधानि विन्यसेत् परितो मण्डलं बुधः।
इष्टलिङ्गार्चना पात्रविन्यासायोत्तमोत्तमम्।।
तत्त्वमण्डलमाख्यातं तत्त्वानुभवसाधनम्।।''

कारणागम, क्रियापाद (४.२३-२५)

''तत्त्वमण्डल'' चक्राकार होता है और सैंतीस (३७) सरल और उतनी ही सैंतीस (३७) आडी रेखाओं के खींचने से बनता है। उसमें १२९६ (बारह सौ छियानबे) कोष्ठक होते हैं। उस तत्त्व मण्डल के मध्य में ३६ (छत्तीस) पंखुडियों का कमल चित्रित करना चाहिये और उसके चारों ओर सभी कोष्ठकों में छोटे-छोटे कमल बनाने चाहिये। उसके चारों ओर दस आयुधों का लेखन करना चाहिये। तत्त्वमण्डल आत्मानुभूति में सहायक होता है। इष्टलिंग की पूजा करते समय इसमें विविध पूजापात्र रखने चाहिये।

त्रिविध मण्डल विविध पूजाओं के अवसरों पर विभिन्न पूजापात्र रखने के लिये बनाये जाते हैं। सुवर्ण, रजत, ताम्र, नारियल अथवा बिल्ववृक्ष की लकड़ी के पात्रों में पूजा सामग्री रखनी चाहिये। जिसमें बिल्व पात्र उत्तमोत्तम है। विरक्त व्यक्ति के लिये नारिकेल पात्र में पूजा सामग्री रखने का विधान है। यह सभी विषय और उनकी निर्माण विधि कारणागम में वर्णित है। जो इस लेख का विषय नहीं है।

समाधिमण्डप ''पारमेश्वरागम'' (२.१९-२३) में अपने पिता की समाधिस्थली में यथाशक्ति मण्डपनिर्माण का विधान इस प्रकार किया गया है–

''निक्षिप्य वेदिका क्षेत्रे मद्बुद्ध्या यदि चास्तिकः।
मण्डवं कारयेत् शक्त्या शिलादारुतृणादिभिः।।''

वह समाधिमण्डप अपनी शक्ति के अनुसार पाषाणशिला, लकड़ी अथवा घासफूस का भी बन सकता है।

श्राद्धार्थ मण्डल– वीरशैवों की श्राद्धविधि में विश्वेदेव तथा पितृस्थानीय ब्राह्मणों का पूजन मण्डल के भीतर ही किया जाता है। ''मकुटागम'' (चर्यापाद ९.१३-१५) में इसका वर्णन इस प्रकार है–

''पादार्चनाय रचयेद् बाह्यमान्तरमेव च।
अरङ्गमेति मन्त्रेण मण्डलाद्वितयं तथा।।
मध्ये तयोरन्तरेण कर्तव्यं वै षडङ्गुलम्।
यथा पादोदकस्पर्शो न भवेत् पितृदेवयोः।।
मण्डलद्वयमारच्य पाद्यार्थं पितृदेवयोः।
तत्स्थाने भस्मगन्धाद्यै रर्चयेत् सकलैराक्ष्या।।''

श्राद्ध के अवसर पर निमन्त्रित विश्वेदेव स्थानीय और पितृस्थानीय ब्राह्मणों की पूजा करने के लिये दो मण्डल बनाने चाहिये– बाह्य और आभ्यन्तर। वहीं उनकी पादोदक से पाद्यपूजा करनी चाहिये। दोनों मण्डलों के बीच छः छः अङ्गुल का अन्तर रखना चाहिये, जिससे प्रतिनिधिस्वरूप दोनों ब्राह्मणों के पादोदक का परस्पर स्पर्श न हो। उन्हीं मण्डलों के मध्य भस्म-गन्ध आदि विविध पूजा सामग्री से विधपूर्वक पूजन करना चाहिये।

इस प्रकार वीरशैवागमसम्मत ग्रन्थों में विविध अवसरों के लिये उपयुक्त दीक्षामण्डप, हवन कुण्ड, स्थण्डिल, विविध मण्डल, पादपूजा मण्डल, पूजापात्रमण्डल, समाधिमण्डप आदि का सविस्तर चित्रण किया गया है।

OOO

Śirovrata with reference to other Vratas

•

Dr. Rama Ghose
Member, Advisory Committee
Shaiva Bharati Shodha Pratisthanam
Jangamawadi Math, Varanasi

The etymology of the word 'Vrata', meaning bearing vow, arises from the root 'वृ' indicating and bearing different shades of meaning, such as, acceptance (वर), will (संकल्प), rule (विधि), injunction (आदेश), obeying (आज्ञा पालन) duty (कर्तव्य) religious and ethical rites and conducts (धार्मिक एवं नैतिक कृत्य) penances and restricted pious way of life. Dharma,Vrata and Ṛta are the three meaningful words that have oceasionally been used to establish the inevitable relation between the vrata and Dharma and its implication to Ṛta. Ṛta, according to Ṛk saṁhitā, is the eternal law of the universe that bears and contṛols the system of the manifestation in accordance with the virtues and vows. 'Dharman' are the such religious ritualistic rites such as Yama Niyama, Yajña. The Varṇāśrama duties etc. that produce virtuous attributes condusive to the performance of Vratas that are again advocated by Ṛṣis for upliftment of the spiritual life. Thus, Dharman, Ṛt and Vrata are no only interrelated but also complementary to each other for the somooth progress towards the attainment of goal of life. The truthful will originates from the eternal Ṛta which is immanently active in all sentient beings of the universe and inspires for the virtuous conducts. So,Vratas or the vows are the products of the compilation of will, virtues and the eternal law of the Ṛta. This cycle of the combination maintains the balance of the creation and promotes the progress of spiritual life.[1] Yaske also propounds that religious duties, truthfulness observance ofceleloacy and the ratricted trutricted food and way of life as per the prescribed rules of the scriptures

are the real Vratas or vows of human life.[2] Puraṇas also advocate that regular observance of the rules and regulations of life following the internal attitude and their outward expression towards the meaning and significance of life produces 'tapas' — the consolidated energy as the resultante of the observance of the Vratas pure diets generate good results in the body and mind which enhances the power of mental faculty, such as, memory which is the best antidote of ignorance, desire and all bondages of life[4]. The realisation that the Reality is not only permeated in the whole creation but also is vibrated everywhere. Will, discipline, holy impression, tenacity in the observance of the prescribed principles of life and universal love are the specific charteriscs of Vratas. Unflinching belief in the dignity of traditional concept of values and the way of life for the gradual attainment of the hierarchical states of spiritual life[5] and also obtaining the goal of life by the strict observance of the Vratas have ever been prescribed in the scriptures.Vrata, in terms of firm determination's inevitable for the observance of yajña, alms giving and tapa etc. Which are the means to enjoy the blissful manifestation of God. Gradual purification of mind that finally leads to samādhi also entails the strict observance of Vratas along with the other spiritual means.[6] As the reflection depends on the clarity of the glass, so also the Truth is manifested in its original form in the purest 'Citta'. Observance of physical and mental purity is considered to be the supreme Vrata. Purity of conduct, mind, pligrimage and knowledge are the four principal Vratas of purity out of which last one i.e. 'knowledge' is the best among all.[7] Adoration of God is the Supreme of all Vratas.[8] Through this only one is able to transcend the finitude of human being.

According to the religious scriptures one who remains ever absorbed in religious thinking and is sincere and honest in observing the duties of varṇāśramas, unattached to wordly things truthful, wise and possessor of strong will power, is certainly eligible to adopt a vow as per his spiritual attitude. Caste, creed or sex do not create hindrance in accepting any vow to the choice of the person concerned. Vows are the simple, virtuous conducts that are liable to observe with all sincerity and devotion

throughout the life for the achievement of higher values. Vows once accepted, can never be abandoned whatever the circumstances are. Remaining firm in adverse situation is the characteristics as well as the test of vows which develops self-confidence, sense of dignity, value and the strong conviction to acquire the higher virtues of life. Disciplined virtuous life is the only way for upliftment. Vratas are to be performed through physical discipline, such as, by observing non-violence etc. by adopting truthful and sweet utterances and avoiding bitter and untrue words. Such practice is termed as vācik Vratas. Observing all mental virtues by subsiding undesirable factors like anger, greed, ego-centricity, attachment and jealousy etc., is called the vows related to mental disciplines. Vows are of three kinds — Nitya, Naimittika and Kāmya. Nityas are the Vratas that are being observed regularly without fail with the sense of duty and discipline of life. Vratas of Ekādaśi, Pradoṣa, Pūrṇimā etc. may be considered as the 'Nitya vratas' observed as the regular way of life. Naimittika or purposive Vratas are being performed to acquire a definite, purposive result to fulfil certain requirement. Vows like Cāndrāyaṇa, Prajāpatya etc, are being performed for the annihilation of particular sins. SomeVratas are being performed for a particular achievement, either material or spiritual. Gauri Vratas, Vaṭasāvitri empirical vratas are meant for the good result in marital life. Such Vratas are known as the 'Kāmya Vrata. Vrata in esteemed sense is the spiritual nature of Being. As bestowal of Grace is the 'Vrata', the commitment, the very nature of the Supreme Being to take refuge of the devotee who has totally surrendered his being is the vow of God that has repeatedly been mentioned and manifested in the various context in scriptures. There are some unique references for the observer of vows.Srī Rāma, the hero of *Rāmāyaṇa*, was an uncompromising observer of truthfulness — the Satya-Vratas, who has established all norms of social as well as spiritual life. He is the epitome of all virtues and so is the bearer of all vratas. His brother Bharat was an ardent devotee and a rigorous observer of all religious and virtuous duties by which he was transformed in to submitted devotee. Srī Mahāvīr Hanumān is the greatest example of the self-less service — the

Niṣkāma sevāvrata. His desireless service towards his God Rāma makes him complete in spiritual life. The Tapo-vrata' of Goddess Pārvatī to be united with Śiva is the esteemed path-way shown by Goddess herself for the attainment of Śiva. She is known as Panca-tapa for her extremely regorous means of Tapa as she has set an ideal of chastity and love for the Lord , Pati. Ardent devotee Prahlād is the self-less observer of Śīla-vrata. One is able to attain the three worlds (त्रिलोक) only through performing Śīlas. Nothing is impossible for the observer of Sīlavrata[10]. Kṛṣṇa dvaipāyan vedavyāsa is the propagator of various vratas. He is the bearer and the donar of eternal culture (सनातन संस्कृति). He maintains that vratas are the essential observances in gaining the virtues, removing the undesirable deeds. Vratas confirm the virtuous conducts in life and so have the immense value in spiritual progress of human being. The process of commencement of a particular vow, its continuation during the period and its culmination as the fulfilment of a vow (उद्यापन) have profausely properly been described in Paurāṇic literatures. *Agni Purāṇa* deals with the vratas to be observed in the full moon day, darknight day, first day of a fortnight. Rules and regulations prescribed in the scriptures have generally been accepted as vratas. Forgiveness, truthfulness, kindness, alms, clealiness, control on senses, worship of deities, oblation to fire, contentment and desirelessness are the virtuous qualities essential for the observance of vratas. *Bhaviṣya Purāṇa* is full of the the descriptions of vratas in accordance with the time & day to be observed on, such as worship of Brahmā on the day of Pratipadā as it is the first day of creation. Puṣpadvitīyāvrata of the sage Cyavana and Aśunya śayana vrata, on the day of Tritīyā Gourivrata, on the Caturthi Gaṇeśavrata, on the Pañcami Nāgpañcami, on Ṣaṣṭhi God Kārtīkeya is to be worshipped. Seventh day is meant for the adoration of sun-god. So, there are various vratas of Sūrya, such as, Rath-Saptamī, Phala-saptamī, Rahasya saptamī, Siddhārtha saptamī, Vijaya-saptamī, twelve sunday-vrata (द्वादश रविवार व्रत) Āditya-vrata, Jayanti saptamī, Jayā saptamī, Mahājayā saptamī, Nandā saptamī, Mārtaṇḍīya saptamī, Kāmadāsaptamī, Nikṣubhārka saptamī and Satyanārāyaṇa vrata are the main worships have been described

in detail. The later part of *Bhaviṣya Purāṇa* is also full of description of vratas, such as Samvatsar Pratipadāvrata, Ashok vrata, Jātismar bhdra vrata Śri Pañcami, Kamala Ṣaṣthi, [Ram bhātritīyā vrata, Goṣpadatritīyāvrata, Harkāli vrata, Lalitatritiyāvrata, Umāmaheśvara vrata, Saubhāgya śayan vrata, Akṣay Tritiyā, Sarasvativrata], Mandār ṣaṣthī, Lalitāṣaṣthi, Muktābharaṇa saptamī, Acalā saptamī, Budhāṣṭamī, Śrī Kṛṣṇa Janmāṣṭamī, Dūrvāṣṭamī, Śrī Vṛkṣanavamī, Daśāvatāra vrata, Āshāḍhaśamī etc. are the main vratas to be observed on the different occasion to fullfil various aspiration. "Apart from the above same more vratas like Bhīṣmapañca vrata, Anant Caturdaśi vrata, Pūrṇimā and Amāvāsyā vrata etc. are to be observed on the particular days. In the later portion of *Bhaviṣya Purāṇa* more than hundred prakīrṇa vratas have been described in the 129th chapter of this Purāṇa. In uttar khand of *Padmapurāṇa* 26 Ekādaśī vratas have been described for the whole year along with the rudra vrata, Nīlvrata, Prītivrata, Gourivrata, Śivavrata, Soumyavrata, Saubhāgya vrata, Sārasvat vrata, Sāmya vrata, Ānanda vrata, Ahiṁsā vrata, Sūryavrata, Viṣṇuvrata, Śīlavrata, Devīvrata, Vināyak vrata, Bhavānī vrata, Mokṣa vrata, Somavrata etc. In *Matsya Purāṇa* some vratas namely, Nakṣatra vrata, Āditya śayan, Śrīkṛṣṇāsṭamī, Rohiṇī Candra śayan, Soubhāgya śayan, Ananta tṛtīyā, Rasakalyāṇī vrata, Ānandakarī tṛtīyā, Akṣayatṛtīyā, Sārasvatvrata, Bhīmadvādasī, Aśūnyaśayan, Aṅgāraka vrata, Viśoka saptamī, Phalasaptamī, Mandāra-saptamī and vibhūtidvādaśi etc. In the 101st chapter of *Matsya Purāṇa* 60 vratas have been described like Deva-vrata, Rudra vrata, priti vrata etc. *Varāha·Purāṇa* advices that some moral disciplines must be observed— अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्मषम्। एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि व्रतधारिणि (*Varāha Purāṇa*) Books on vratas, such as, kṛtyakkalpa tarm Hemādrikā vrata khanda, smṛti tattva, varṣakṛtya koumudī, Nirṇayasindhu, Samay Mayakh, Saṅskāra mayukh etc. are the complitation of the detail instruction advocated by Saint Vedavyāsa who is the principal propagator of the various vratas for the different occasions and purposes. The glory of vratas has been stated by him as — ते स्युर्देवादयः प्रीता मुक्ति-मुक्ति प्रदायकाः।। (*Agni Purāṇa* 175.5). Pardoing (क्षमा) Truthfulness (सत्य), Piety (दया), donation

(दान), cleanliness (शौच), controlling the senses (इन्द्रिय संयम), worship of the diety (देव पूजा), fire worship (अग्नि होत्र), contentment (सन्तोष), non-steating (अस्तेय) are the ten characteristics that are commonly admitted in all vratas (*Agni Purāṇa* 175.10-11)[11]. Wife or son is allowed to perform the vrata accepted by the husband or father in case of inability. Vratas are not to be stopped rather observed in all adverse or impure (अशौच) circumstances. Vrata is such a pious activity that has been observed by God himself. In *Rāmāyaṇa* it was asserted by God that providing protection to one who surrenders himself to Him is the vrata of God. It has been mentiond in *Mahābhārat* that Śīla is the most powerful vrata that compowers one to reach the goal of life. Śirovrata, Śivavrata or Śāmbhavavrata are the terms used for the only way or means for the attainment of the end i.e. Śivahood and liberation. After obtaining three kinds of Dīkṣās (Vedhā, Manu and Kriyā) from guru, getting rid of the three impurities (māyā, kārma and āṇava) sādhaka becomes free from the cycle of birth and death and consequently attains the state of liberation. Only Śāmbhava or Śirovrata is the supreme process of worship that terminates the bonds of the world and elevates sādhaka to the goal of life, the eternal state of bliss. Wise persons are advised to offer oblations in the name of ātma tattva, vidyātattva and Śivatattva by reciting the hymn 'ātma tattvāya svāhā, vidyātattvāya svāhā and Śivatattvāya svāhā. He should invoke the Śiva pilgrime in the water and take the bath before performing Tarpaṇa and Aghamarṣaṇa in the name of gods and ancestors. Devotee should maintain all kinds of cleanliness and purity as any deviation from purity would condemn to darkness of ignorance. Sacred ash prepared in the Śivāgni should be besmeared by the process of uddhūlana throughout the whole body. Tripuṇḍrak are to be drawn with sacred ashes in thirty two places of the body. Definite number of Rudrākṣas are to be worn by taking vows. A garland of 108 Rudrākṣas to be prepared for the purpose of japa-yajña. Śirovrata is the most secret and the mysterious discipline as it occasions the mala paripāka karma-sāmya and Śakti nipāta and consequently results the essation of the cycle of birth and death[12]. One who observes Śirovrata is sure to be

considered blissed. Worshipping Iṣṭaliṅga endowed by Guru prescribed procedures laid down in the scriptures and regularly observing the other disciplines of religious rites and duties as per the instruction of Guru are the main features of Śirovrata. Sādhak becomes endowed with the spiritual power when he receives the pañcasūtra Iṣṭaliṅga from Guru as Guru, Liṅga and Jaṅgama are the different manifestations of the same Reality. The spiritual power received from the Guru is fructified through the observance of Śirovrata is the most significant teaching advocated by Makuṭāgama. Performance of Aghamarṣaṇa and Tarpaṇa, recitation of Gāyatri hymn, worshipping the feet of Liṅgī, offering oblations in the name of gods, saints and ancestors after observing the rites of 'ācamana' and 'Saṅkalpa' along with the wearing of Rudrākṣa and drawing the Tripuṇḍrak with sacred ash prepared with the 'Śivāgni' are the unique features of Śirovrata. Pañcākṣara is the supreme hymn among the Īśāna, Tatpuruṣa, Aghora and Vyomvyāpī hymn. Three kinds of worships, namely Mahati, Gurvī and Laghvī are to be observed attentively.

The last rite ceremony of Vīraśaiva Śirovrata is also the part and parcel of the Śirovrata vow as it is meant for the spiritual upliftment and attainment of Śivahood. So, Śirovrata has the unique place of its own. It has its source and flow in and through the graceful power of Śiva-śakti descending through Guru and received by the disciple on Dīkṣā. Worshipping is the indispensible part of vrata. According to *Makuṭāgama* there are three kinds of worship, namely Mahatī, Gurvī and Laghvī in accordance with the internal worth and capability of the worshipper. Mahati is of first order, whereas Gurvī is the middle one and Laghvī is of the lowest kind. These worships are to be observed three times during the morning, noon and evening time.[13] Maṇḍala, Ārati Nirājana and Raṅgavalli are to be used with devotion. Abhiṣekas are considered to be appropriate performance of worship. A sacred mixture of honey, cow-milk, curd, ghee, sugar (pañcāmṛta), incense, flowers, paste of sandle wood, etc. are being used in the performeace of worship. Detail processes have been preached for the performance of sacrifice (यज्ञ) and their under lying significance. Observances of rites

and rituals are not sufficient, rather the realisation of their bearing on life is more essential, so that the observances may take the form of vrata. A detail description of all the ingredients of the items of yajña have been given systematically, Iṣṭaliṅga provided by Guru is the most significant aspect of Vīraśaivism. *Makuṭāgama* advocates the Śirovrata which is also known as Śāmbhava vrata, the cream of all vratas is the supreme path to reach the feet of Lord. For those who have entered into the colesest unison with Śiva (Sāmarsya), adoration itself is said as "medha' — Śivamedh which the aspirant must observe.

Notes and References

1. 'धर्मणा मित्रावरूणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया। ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम्।। —*Ṛgveda*, 5.63.7, 5.72.2 and 1.65.2, 2.27.8, 3.4.7, 10.65.8.
2. व्रतमिति कर्म नाम वृणोतीति सतः। इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव। निवृत्तिकर्म। वारयतीति सतः। अन्नमपि व्रतमुच्यते। यदावृणोति शरीरम्।। —*Nirukta*, 2.4.13
3. शास्त्रोदितो हि नियमो व्रतं तच्च तपो मतम् । —*अग्निपुराण* 175.2
4. आहारशुद्धो सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।। —*Chāndogya Up.* 7.26.2
5. स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
   महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं कियते तनुः।। —*Manusmṛti*, 2.28
6. दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतं च कर्माणि च सद् व्रतानि।
   सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधिः।।
   —*Śrimat Bhāgavat* 11.23.46
7. वृत्तशौचं मनः शौचं तीर्थशौचमतः परम्।
   ज्ञानोत्पन्नं च यच्छौचं तच्छौचं परमं स्मृतम्।।
   —*Mahābhārat*, Anuśāsan, 108.12
8. कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो, रात्रौ च कृष्ण पुनरूत्थिता ये ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्णमाज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशो। —*Mahābhārat*, Śānti Parva, 47.93

9. सुकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाभ्येतद् व्रतं मम।।

—*Vālmikī Rāmāyaṇa* 6.18.33

सर्वधर्मान् परित्यज्य —*Bhagavadgeeta* 18.66

10. शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्त्या जेतुं न संशयः।
न हि, किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत्।।

—*Mahābhārat*, Śānti Parva, 124.15

11. क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
देवपूजाग्निहरणं सन्तोषोऽस्तूयमेव च।।
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्मृतः।।

—*Agni Purāṇa* 175.10-11

12. शिरोव्रतं महागुह्यमिदं तेनैव लभ्यते।
यः कर्मसाम्यसंगत्या न पुनर्जन्मभाग् भवेत्।।

—*Makuṭāgama*, Kriyāpāda 14

13. महतीमुत्तमः कुर्याद् गुर्वी मध्यम एव च।
लघ्वीमशक्तः कुर्याच्च सायं मध्याह्न कालयोः।।

—*Makuṭāgama*, Kriyāpāda 3

OOO

आगमोक्त समाधि-विधि एवं उत्तर-विधि का विवेचन

(वीरशैवमत के सन्दर्भ में)

•

डॉ. शीतला प्रसाद उपाध्याय
उपाचार्य, सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

आधुनिक इतिहासकार उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर सिन्धुघाटी की सभ्यता का सम्बन्ध शैवी साधना और शाम्भवी विद्या से जोड़ते हैं। वे लोग इस सभ्यता में शवोत्सर्ग की तीन प्रकार की विधियाँ भी सुनिश्चित करते हैं। उनके अनुसार प्रथम विधि है– पूर्ण समाधीकरण, जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण शव को भूमि में नीचे गाड़ दिया जाता था। द्वितीय विधि में आंशिक समाधीकरण है जिसमें पशु-पक्षियों द्वारा खा लेने के अनन्तर शव के अवशिष्ट भाग गाड़े जाते थे और तृतीय है– दाह कर्म, जिसमें सम्पूर्ण शव को जला दिया जाता था तथा कभी-कभी उसकी भस्म भी गाड़ी जाती थी।

शैवधर्म की समस्त शाखा-प्रशाखाओं के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि इस धर्म की मात्र एक शाखा 'वीरशैव' में मृतक के दाह संस्कार के कोई भी चिह्न उपलब्ध नहीं होते। इस सम्प्रदाय में प्राचीन काल से लेकर आज तक मृतक के शवों को भूमि में गाड़ने की प्रथा स्वीकृत है। इनके धार्मिक ग्रन्थों में अन्त्येष्टि संस्कार की यह विधि खनन-विधि, अवसान-विधि, भूनिक्षेप- विधि, और्ध्वदेहिक क्रिया, आराधनरूप कर्म, निर्याण याग, शिवमेध, समाधिविधि आदि नामों से जानी जाती है।

मृत व्यक्ति के दाह संस्कार के समान ही भूमिनिक्षेप की विधि भी शास्त्र सम्मत है, ऐसा 'लिंगधारणचन्द्रिका'[1] के उत्तर भाग में विवेचित है। यहाँ इसके औचित्य पर गम्भीर उहापोह किया गया है और श्रुति, स्मृति, आगम, पुराण आदि के प्रमाणों से इस विधि का वैदिकत्व भी सिद्ध किया गया है। यहाँ ऋग्वेद के खिल

भाग में पठित "कर्दमेन प्रजाः" (ऋ.खि.५.८७.११) आदि मन्त्रों को उद्धृत कर उसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। उसके अनुसार इस विधि में पंच भौतिक स्थूल देह को पंच तत्त्वों में सर्वाधिक स्थूल तत्त्व पृथ्वी में समर्पित करने का विधान सम्पन्न होना बतलाया गया है और इसके समर्थन में कूर्मपुराण के वचनों को भी उद्धृत किया गया है। छाग-पशुन्याय से दहन और खनन दोनों विधियों की सार्थकता को भी यहाँ सिद्ध किया गया है। दहन के साथ-साथ खनन को शास्त्रीय मान्यता देने के सन्दर्भ में यहाँ वातुलागम, शिवाद्वैतदर्पणकार, महाभारत, अंगिरस स्मृति, मनुस्मृति, सूतसंहिता आदि के प्रमाणों की सहायता ली गयी है।

यहाँ ग्रन्थकार ने शिवधर्मशास्त्र के वचनों के प्रमाण से यह समझाने का प्रयास किया है कि जिस प्रकार दग्ध हुए को जलाया नहीं जाता और पक्व हुए को पकाया नहीं जाता, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि से भस्मीभूत हुए शिवयोगी के मृत शरीर को पुनः अग्नि को समर्पित करने की आवश्यकता नहीं है। उसका तो भूनिक्षेप करना ही कर्तव्य है।[२] इस प्रसंग में यहाँ मनुस्मृति, शातातपस्मृति, स्कन्दपुराण, पद्मपुराण, शंकरसंहिता, शिवधर्मोत्तर, वीरागम, शिवरहस्य आदि के प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि अग्निहोत्र, सन्ध्यावन्दन आदि नित्यकर्मों से उदासीन रहने वाला जैसे प्रत्यवाय का भागी होता है, वैसे ही इष्टलिंगधारी के देह का दाह-संस्कार करने वाला भी प्रायश्चित्ती माना जायेगा।

सापिण्ड्य-विचार के प्रसंग में ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि मृतव्यक्ति के प्रेतत्व की निवृत्ति ही सापिण्ड्य-श्राद्ध का प्रयोजन होता है। इष्टलिंगधारी के शरीर में प्रेतत्व की प्राप्ति नहीं होती, अत एव प्रेतत्व की निवृत्ति के निमित्त की जाने वाली सापिण्ड्य-विधि का यहाँ प्रयोजन न होने से वह नहीं की जाती।[३] ग्रन्थकार ने यहाँ मकुटागम, वीरागम, चन्द्रज्ञानागम, पद्मपुराण आदि के प्रमाणों से इस विषय पर विचार-विमर्श करते हुए तत्त्व-संयोजन और कला-संयोजन की विधि को अपरिहार्य बतलाया है।

शाम्भवव्रत का पालन करने वाले एवं एकमात्र इष्टलिंग की अर्चा में रत शिवभक्त के देहावसान के अनन्तर किया जाने वाला आराधनरूपी और्ध्वदेहिक कर्म ही समाधि विधि अथवा शिवमेध के नाम से प्रसिद्ध है।[४] इसे विशिष्ट पितृमेध भी कहा जाता है। इस विधि के अन्तर्गत शिवभक्त के शरीर के दाह संस्कार का निषेध है। यहाँ मृत शरीर को भूमि के भीतर समाधिस्थ करना ही विधि है। यह समाधि, प्रेत के लिए किये जाने वाले संस्कारों से भिन्न, मोक्ष प्राप्ति का एक संस्कार है। इस समाधि-संस्कार में किसी भी प्रकार के धर्मलोप की कोई आशंका नहीं है।[५]

मुक्ति की कामना से उत्क्रमण करने वाले गृहस्थ साधक को मृत्यु काल के लक्षणों का भलीभाँति परिज्ञान प्राप्त करके अपना मन ईश्वर में लगा देना चाहिए। उत्क्रमण के समय दान करने के लिए उसे, भस्म अथवा जल से स्नान करके, स्वच्छ वस्त्र पहनकर तथा कुशासन पर बैठकर भस्मोद्धूलन पूर्वक त्रिपुण्ड्र एवं रुद्राक्ष धारण करना चाहिए। तदनन्तर "या ते अग्ने-" इत्यादि मन्त्र से स्वात्मा में अग्नियों का आधान करके अपने में समारोपित अग्नि की शान्ति के लिए षडध्व शुद्धि-सम्पन्न होकर जल में विधिपूर्वक आहुति देना चाहिए। तत्पश्चात् माहेश्वरों को दक्षिणा सहित सुवर्ण, गाय, भूमि और पवित्र शिवलिंग का दान करना चाहिए।[६] पुनः दानोपरान्त तत्त्व संयोजन की प्रक्रिया आरम्भ करनी चाहिए।

तत्त्वसंयोजन की प्रक्रिया में क्रमानुसार अपने अपने कारणों में स्थूल और सूक्ष्म शरीर को एक निर्दिष्ट पद्धति से विलीन किया जाता है। यथा– आकाश में शरीर के छिद्रों का, पवन में श्वास-प्रश्वास के प्रवाह का, अग्नि में शरीरगत उष्मा का, जल में रक्त-मवाद-कफ आदि का तथा पृथ्वी में अस्थि-मांसादि कठिन भागों का विलापन करना चाहिए। स्थूल देह के विलापन के पश्चात् सूक्ष्म शरीर के विलापन-क्रम में इन्द्रियों के प्रेरक रूप में तत्तदिन्द्रियों के अधिष्ठाता देवतोओं में विषयों के साथ उन-उन इन्द्रियों को विलीन करने का विधान है। जैसे– अग्नि में वागिन्द्रिय की अधिष्ठात्री देवता के साथ वागिन्द्रिय का, इन्द्र में सारी शिल्पकला के साथ पाणीन्द्रिय का, विष्णु में गमन क्रिया के साथ पादेन्द्रिय का, प्रजापति में रतिक्रिया के साथ उपस्थेन्द्रिय का, यम में विसर्ग के साथ पायु-इन्द्रिय का विलापन करना चाहिए। पुनः दिशाओं में शब्द के साथ श्रोत्रेन्द्रिय का, वायु में स्पर्श के साथ त्वगिन्द्रिय का, सूर्य में रूप के साथ चक्षु-इन्द्रिय का, वरुण में रस के साथ रसनेन्द्रिय का, अश्विनी-कुमारों में गन्ध के साथ घ्राणेन्द्रिय का, चन्द्रमा में मन्तव्य के साथ मन का, चतुर्मुख ब्रह्मा में बोध्य विषयों के साथ बुद्धि का, रुद्र में सारे अहंकर्त्तव्यों के साथ अहंकार का प्रविलापन करना यहाँ अभीष्ट है। पुनः क्षेत्रज्ञ में भोक्तृत्व आदि सारे विकारों को, गुणों के अधिष्ठाता देवताओं में सारे चेतयितव्यों के साथ चित्त को और अन्त में विकारवान् चित्त को परशिव में संयोजित करने का विधान यहाँ वर्णित है।[७]

"आयुषः प्राणम्" इत्यादि मन्त्रों का पाठ करते हुए सामरस्य की प्राप्ति के लिए शरीर के सारे अंगों के साथ स्व में लिंग के साहित्य-भाव का सावधानीपूर्वक योंजन करना चाहिए। वीरशैव मत के अनुसार मानवशरीर में एक मात्र परलिंग ही सर्वत्र सुप्रतिष्ठित है। वही नाम, रूप और क्रिया के रूप में सर्वत्र प्रतिभासित होता रहता है। उसके सर्वतोमुखी भाव-प्रकाशन के लिए सभी अंगों में लिंग की स्थिति का परिज्ञान गुरु के उपदेश से ही सम्भव हो पाता है। मकुटागम के अनुसार बाह्य

अंग (स्थूल शरीर) में इष्टलिंग, आन्तर अंग (सूक्ष्म शरीर) में प्राणलिंग और आत्मांग (कारण शरीर) में भावलिंग सुप्रतिष्ठित है। हृदयरूपी अंग में महालिंग, श्रोत्र अंग में प्रसाद लिंग, त्वग्रूपी अंग में चरलिंग और चक्षुरूपी अंग में शिवलिंग अवस्थित है। जिह्वारूपी अंग में गुरुलिंग और नासिकांग में आचार लिंग अश्रान्त भाव से सदा ही सुप्रतिष्ठित रहता है। कर्मेन्द्रियों में भी वाग्रूपी अंग में प्रसादलिंग, पाणि में चरलिंग, पाद में शिवलिंग, पायु में गुरुलिंग और उपस्थ में आचारलिंग की भावना का निर्देश है। अप्रतर्क्य, अनिर्देश्य, चेतनाशक्ति और वाणी के अगोचर, सर्वशक्ति सम्पन्न और सर्वज्ञ, सच्चिदानन्दलक्षण परलिंग की भावना करने वाला शिवभक्त शुद्धभावापन्न पवित्र चित्त से परलिंगभाव को प्राप्त कर लेता है।[८]

तदनन्तर शिवभावापन्न चित्त से शिवगणों को सम्बोधित कर प्रायश्चित विधि को सम्पन्न करना चाहिए। यह विधि वर्णाश्रम धर्मों का आचरण न करने, अष्टावरण धर्मों के पालन में हुई न्यूनता, व्रतों के लोप, पंचाचारों के पालन में हुई त्रुटि तथा शिवभक्ति के अभाव से उत्पन्न मन, वचन और कर्म के दोषों की निवृत्ति के निमित्त सम्पन्न की जाती है। पुनः माहेश्वरों का पादोदक लेकर प्रायोपवेशन-व्रत को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकिया से शिवनाम का जप और महालिंग की भावना करता हुआ साधक शिव में लीन हो जाता है। अपनी आयु के अन्तिम क्षणों में शिवभक्त को कम से कम तीन बार शिव, शिव, शिव का उच्चारण करना चाहिए। उत्क्रान्ति काल को सन्निकट जानकर पुत्र, शिष्य आदि को उसके कान में मन्त्रों का पाठ करना चाहिए। दाहिने कर्ण में षडक्षरी मन्त्र और शाश्वत् कल्याणकारी उपनिषदों को सुनाना चाहिए। प्राणोत्क्रान्ति काल में "अणु पन्था." इत्यादि अर्चिरादि (उत्तरायण) गति के प्रापक मन्त्रों का उच्चारण करते हुए कर्पूर जलाना चाहिए।[९]

उत्क्रमण के अनन्तर और्ध्वदेहिक कृत्यों को सम्पादित करने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम स्नान करके स्वच्छ वस्त्र पहन कर त्रिपुण्ड्र और रुद्राक्ष धारण करना चाहिए। पुनः कर्मसिद्धि के लिए शिवगणों को नमस्कार कर उन्हें यथाशक्ति दान देकर उनकी अनुज्ञा प्राप्त करे। ऊर्ध्वोच्छिष्ट आदि दोषों की शान्ति के लिए प्रायश्चित करे और प्राजापत्य कर्म के प्रतिनिधि के रूप में द्रव्य का दान करे। प्रासाद अथवा खट्वा पर मृत्यु होने पर प्रायश्चित के रूप में यह गोदान अथवा सुवर्णदान या प्राजापत्य व्रत का विधान है।[१०] रात्रि में, कृष्णपक्ष में अथवा दक्षिणायन में मृत्यु होने पर "ताः सूर्याः" इत्यादि छः ऋचाओं से आहुति देने के उपरान्त मृतक का संस्कार करना चाहिए। शरीर से प्राण के निकल जाने पर श्रीरुद्राध्याय से मृत देह का अभिषेक करे।[११] मृत्यु से पच्चीस घटिका के अन्दर यदि संस्कार सम्भव न हो सके तो निष्प्राण देह को पंचगव्य से स्नान कराकर, पावमानी ऋचा से अभिमन्त्रित कर पुनः श्रीरुद्र आदि मन्त्रों का पाठ

करते हुए जल से स्नान करावे तथा मृत देह को भस्म और रुद्राक्ष से अलंकृत कर देवे। इष्टलिंग को हाथ पर रखकर उसकी पूजा करे तथा उसे पेटिका में रखकर मृतक को स्वस्तिकासन मुद्रा में बैठाकर उसकी जंघाओं पर उसके दोनों हाथों को रखकर रस्सियों से मजबूती से बाँध दे।

तदनन्तर मृत देह को परिवार के वैभव के अनुरूप विमान में रखकर महोक्ष, वृषभ, नन्दीश और नन्दिकेश्वर नाम वाले चार व्यक्तियों के द्वारा मंगलध्वनि के साथ शिवाराम में ले जाना चाहिए। यह विमान चार द्वार वाला, तीन या एक द्वार वाला भी हो सकता है। यह चार पाये और चार स्तम्भ वाला भी होना चाहिए और इसमें एक ऊँचा शिखर भी रहना चाहिए।[१२] विमान के वाहकों को निवीती होना चाहिए। मृतक के बन्धु-बान्धवों को भी संगीत, स्तोत्रपाठ, नृत्य आदि करते हुए, पंचाक्षरी मन्त्र का जप करते हुए तथा शतरुद्रीय, उपनिषद् आदि का पाठ करते हुए विमान के पीछे चलना चाहिए।

यथासम्भव शिवालय, शिवतीर्थ, बिल्ववृक्ष के समीप या नदी के तट पर अथवा शिवराम के भीतर समाधि बनाकर तथा मृत शरीर को वहाँ यथा विधि रखकर उस गड्ढे को पहले भस्म से, तत्पश्चात् सैन्धव नमक और मिट्टी से भर देना चाहिए। कुछ लोग मृतक के शिर पर नारियल भी फोड़ते हैं। तदनन्तर सचैल स्नान कर नये वस्त्र धारण कर वपन क्रिया सम्पन्न करावे।

मकुटागम[१३] के अनुसार समाधि चौकोर होनी चाहिए। इसकी लम्बाई और चौड़ाई पाँच-पाँच पाद और गहराई नौ पाद प्रमाण होनी चाहिए। प्रथम सोपान एक पाद का, दूसरा दो पाद का और तीसरा तीन पाद का होगा। उस समाधि के भीतर दक्षिण दिशा में तीन पाद परिमित लम्बाई-चौड़ाई वाला त्रिकोण खोदकर उसके भीतर तीन पाद लम्बाई-चौड़ाई वाली वेदिका बनानी चाहिए।

पारमेश्वराग[१४] के अनुसार मृत देह के पाद के प्रमाण से ही उसके नौ या सात पाद के बराबर गर्त ही गहराई रखी जाती है। इससे कम या अधिक गहराई रखने पर कर्ता की आयु क्षीण हो जाती है। उस गर्त के भीतर पूर्व, दक्षिण अथवा उत्तर दिशा की भित्ति में पाँच पाद प्रमाण का एक छोटा चौकोर ताखा बनावे। उस ताखा के बीच में तीन पाद की चौकोर वेदिका बनानी चाहिए। गर्त की भित्ति में दीपमालिका रखने हेतु एक त्रिकोणाकार ताखा तीन पाद की बनावे। इसमे नौ खाने बने होने चाहिए।

इस प्रकार समाधि को तैयार कर उसे ''मा वो रिषत्'' इस मन्त्र से गोबर से लीपना चाहिए और रंगवल्ली से अलंकृत कर गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से उसका प्रोक्षण करना चाहिए। ''अग्निः'' इत्यादि मन्त्र से भस्म शय्या बनाकर चारों

तत्त्वों का पिता, पितामह और प्रपितामह की अड़तीस कलाओं और छत्तीस तत्त्वों से संयोजन किया जाता है। इस प्रक्रिया से प्रेत का चतुर्थभाव समाप्त हो जाता है। यह प्रक्रिया शिवगणों की अनुज्ञा प्राप्त करके ही इस विधि के ज्ञाता ब्राह्मणों से सम्पन्न कराई जाती है। इसके अनन्तर ऊनमासिक आदि षोडश आराधन को यथाकाल करते रहना चाहिए।

सन्दर्भ सूची

१. लिंगधारणचन्द्रिका : सं. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी
२. तत्रैव (पृ.२५१)
३. तत्रैव (पृ.२७१-२७४)
४. चन्द्रज्ञानागम, चर्यापाद (१.६-७)
५. तत्रैव (१.११-१४)
६. तत्रैव (२.५-११)
७. मकुटागम, चर्यापाद (२.१४-२२)
८. तत्रैव (२.२६-३०)
९. चन्द्रज्ञानागम, चर्यापाद (२.२१-२७)
१०. तत्रैव, (३.७-८)
११. मकुटागम, चर्यापाद (३.७)
१२. पारमेश्वरागम (१८.२७-२८)
१३. मकुटागम, चर्यापाद (४.३-१०)
१४. पारमेश्वरागम (१८.४१-४६)
१५. मकुटागम, चर्यापाद (५.१६-१७)

OOO

About the Book

This memorable piece of publication is the proceeding of the seminar held on the occasion of the birth centenary celebration of the Jagadguru 1008 Virabhadra Shivacharya Mahaswamiji, the 84th Pontiff of the Jñānasiṁhāsana of Jangamwadimath. The seminar was the joint venture of the Shaiva Bharati Shodha Pratishthana, the educational wing of Math and the department of Dharmagama, Faculty of Sanskrit Vidya Dharma Vijñāna, Banaras Hindu University. Learned scholars from the various parts of India have discussed different aspects of Vīraśaivāgamas and their implications on the religious and social life.

In presidential address Prof. Shivakumar Swamy has advocated the relation of Veda and Āgama, the parallel streams of our scriptures. Both the scriptures were manifested by Śiva himself. The time of the scriptures cannot be ascertained correctly. Mahamohopadhyay Gopinath Kaviraj holds that scriptures are eternal and revealed by Śiva himself. It may be revealed in any time and at any place and also goes back again to the sphere of Reality as per the will of God. So, historical enquiry regarding the time of the revelation of scriptures is irrelevant. The knowledge and practice of Āgama is practically flowing with the tradition. But the study of the historicity of the events continues.

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान

डी. 35/77, जंगमवाडीमठ

वाराणसी-221001

ISBN : 978-93-82639-19-0

Price : Rs. 300.00